

# समरथ



मई-जून 2011 ♦ नई दिल्ली



Elia  
Hirani



मकबूल फ़िल्म दुश्मन



# नाहि तो जनम नसाई

केदारनाथ अग्रवाल प्रगतिशील काव्य-धारा के एक प्रमुख कवि हैं। उनका पहला काव्य संग्रह युग की आजादी के पहले मार्च, 1947 में प्रकाशित हुआ। हिंदी साहित्य के इतिहास को समझने के लिए यह संग्रह एक बहुमूल्य दस्तावेज़ है। केदारनाथ अग्रवाल ने मार्क्सवादी दर्शन को जीवन आधार मानकर जनसाधारण के जीवन की गहरी व व्यापक संवेदना को अपने कवियों में मुखरित किया है। कवि केदार की जनवादी लेखनी पूर्णरूपेण भारत की सौंधी मिट्टी की देन है। इसीलिए इनकी कविताओं में भारत की धरती की सुगंध और आस्था का स्वर मिलता है।

केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं का अनुवाद रूसी, जर्मन, चेक और अंग्रेज़ी में हुआ है। उनके कविता-संग्रह 'फूल नहीं, रंग बोलते हैं', सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार से सम्मानित हो चुका है :

केदारनाथ अग्रवाल के प्रमुख कविता संग्रह हैं : (1) युग की गंगा, (2) फूल नहीं रंग बोलते हैं, (3) गुलमेंहदी, (4) हे मेरी तुम!, (5) बोलेबोल अबोल, (6) जमुन जल तुम, (7) कहेँ केदार खरी-खरी, (8) मार प्यार की थापें आदि।

श्री केदारनाथ अग्रवाल द्वारा यात्रा संस्मरण **बस्ती खिले गुलाबों की**, उपन्यास **पतिया**, **बैल बाजी मार ले गये** तथा निबंध संग्रह **समय-समय पर** (1970), **विचार बोध** (1980), **विवेक विवेचन** (1980) भी लिखे गये हैं।



■ केदारनाथ अग्रवाल

## बसंती हवा

हवा हूँ, हवा मैं  
बसंती हवा हूँ।

सुनो बात मेरी-  
अनोखी हवा हूँ।  
बड़ी बावली हूँ,  
बड़ी मस्तमौला।  
नहीं कुछ फिकर है,  
बड़ी ही निडर हूँ।  
जिधर चाहती हूँ,  
उधर घूमती हूँ,  
मुसाफिर अजब हूँ।

न घर-बार मेरा,  
न उद्देश्य मेरा,  
न इच्छा किसी की,  
न आशा किसी की,  
न प्रेमी न दुश्मन,  
जिधर चाहती हूँ  
उधर घूमती हूँ।  
हवा हूँ, हवा मैं  
बसंती हवा हूँ!

जहाँ से चली मैं  
जहाँ को गई मैं-  
शहर, गाँव, बस्ती,  
नदी, रेत, निर्जन,  
हरे खेत, पोखर,  
झुलाती चली मैं।  
झुमाती चली मैं!  
हवा हूँ, हवा मैं  
बसंती हवा हूँ।

चढ़ी पेड़ महुआ,  
थपाथप मचाया;  
गिरी धम्म से फिर,  
चढ़ी आम ऊपर,  
उसे भी झकोरा,  
किया कान में 'कू',  
उतरकर भगी मैं,  
हरे खेत पहुँची-  
वहाँ, गेहूँओं में  
लहर खूब मारी।

पहर दो पहर क्या,  
अनेकों पहर तक  
इसी में रही मैं!  
खड़ी देख अलसी  
लिए शीश कलसी,  
मुझे खूब सूझी-  
हिलाया-झुलाया  
गिरी पर न कलसी!  
इसी हार को पा,  
हिलाई न सरसों,  
झुलाई न सरसों,  
हवा हूँ, हवा मैं  
बसंती हवा हूँ!

मुझे देखते ही  
अरहरी लजाई,  
मनाया-बनाया,  
न मानी, न मानी;  
उसे भी न छोड़ा-  
पथिक आ रहा था,  
उसी पर ढकेला;  
हँसी ज़ोर से मैं,  
हँसी सब दिशाएँ,  
हँसे लहलहाते  
हरे खेत सारे,  
हँसी चमचमाती  
भरी धूप प्यारी;  
बसंती हवा में  
हँसी सृष्टि सारी!  
हवा हूँ, हवा मैं  
बसंती हवा हूँ!

## हमारी ज़िन्दगी

हमारी ज़िन्दगी के दिन,  
बड़े संघर्ष के दिन हैं।  
हमेशा काम करते हैं,  
मगर कम दाम मिलते हैं।  
प्रतिक्षण हम बुरे शासन-  
बुरे शोषण से पिसते हैं!!  
अपढ़, अज्ञान, अधिकारों से  
वंचित हम कलपते हैं।  
सड़क पर खूब चलते  
पैर के जूते-से घिसते हैं।।  
हमारी ज़िन्दगी के दिन,  
हमारी ग्लानि के दिन हैं!!

हमारी ज़िन्दगी के दिन,  
बड़े संघर्ष के दिन हैं!

न दाना एक मिलता है,  
खलाये पेट फिरते हैं।  
मुनाफ़ाखोर की गोदाम  
के ताले न खुलते हैं।।  
विकल, बेहाल, भूखे हम  
तड़पते औ' तरसते हैं।  
हमारे पेट का दाना  
हमें इनकार करते हैं।।  
हमारी ज़िन्दगी के दिन  
हमारी भूख के दिन हैं!!

हमारी ज़िन्दगी के दिन,  
बड़े संघर्ष के दिन हैं!  
नहीं मिलता कहीं कपड़ा,  
लँगोटी हम पहनते हैं।  
हमारी औरतों के तन  
उघारे ही झलकते हैं।।  
हज़ारों आदमी के शव  
कफन तक को तरसते हैं।  
बिना ओढ़े हुए चदरा,  
खुले मरघट को चलते हैं।।  
हमारी ज़िन्दगी के दिन,  
हमारी लाज के दिन हैं!!

हमारी ज़िन्दगी के दिन,  
बड़े संघर्ष के दिन हैं!  
हमारे देश में अब भी,  
विदेशी घात करते हैं।  
बड़े राजे, महाराजे,  
हमें मोहताज करते हैं।।  
हमें इंसान के बदले,  
अधम सूकर समझते हैं।  
गले में डालकर रस्सी  
कुटिल कानून कसते हैं।।  
हमारी ज़िन्दगी के दिन  
हमारी कैद के दिन हैं!!

हमारी ज़िन्दगी के दिन,  
बड़े संघर्ष के दिन हैं!  
इरादा कर चुके हैं हम,  
प्रतिज्ञा आज करते हैं।  
हिमालय और सागर में,  
नया तूफ़ान रचते हैं।।  
गुलामी को मसल देंगे  
न हत्यारों से डरते हैं।  
हमें आज़ाद जीना है  
इसी से आज मरते हैं।।  
हमारी ज़िन्दगी के दिन,  
हमारे होश के दिन हैं!!

### मरना एक कलाकार का

4 अप्रैल, 2011 को इस्रायली अरब अभिनेता, निर्देशक और फिल्मकार जुलियानो मीर खमिस की फिलीस्तीन के जेनिन कस्बे में हत्या कर दी गई।

यह कोई अप्रत्याशित घटना नहीं थी। फ्रीडम थियेटर पर जिसकी उन्होंने स्थापना की पहले भी हमले हो चुके हैं और मीर खमिस को खुद भी धमकियाँ मिली, 'पर मेरे पास और क्या रास्ता है? यहाँ से भागना, मैं भगोड़ा नहीं हूँ।' उन्होंने एक इंटरव्यू में कहा। 'मैं इस्रायल की विशिष्ट टुकड़ी का सैनिक हूँ, एक भूतपूर्व छतरी-सैनिक।

इस्रायली संस्कृति से मैंने सिर्फ दो चीज़ें ग्रहण की हैं-श्लोन्स्की द्वारा किया गया शेक्सपीयर का अनुवाद और समुचित क्षेत्र प्रशिक्षण। अब मुझे इसकी जरूरत है। आखिर में विशिष्ट इस्रायली टुकड़ियों को दिया गया क्षेत्र प्रशिक्षण भी मीर खमिस को बचाने में नाकाफी साबित हुआ। उनकी मौत से दुनिया ने एक बहादुर और कल्पनाशील कलाकार खो दिया।

जुलियानो मीर खमिस 52 वर्ष के थे। वे एक अभिनेता और निर्देशक थे। उन्होंने कई फिल्मों में काम किया। उन्हें हॉलीवुड से कई फिल्मों के प्रस्ताव मिले पर उन्होंने इस्रायल/फिलीस्तीन में रहने और फ्रीडम थियेटर जिसे उन्होंने 2006 में स्थापित किया था, में काम करने को तरजीह दी।

खुद फ्रीडम थियेटर का भी एक रुचिकर इतिहास है। 1989 में पहले इतिहादा के दौरान जुलियानो की माँ अर्ना मीर ने इसे स्थापित किया था जिसका प्रारंभिक स्वरूप फिलीस्तीनी स्वास्थ्य और शिक्षा के लिए काम करने का था। अर्ना एक इस्रायली यहूदी थीं जिन्होंने 1948 के अरब-इस्रायली संघर्ष में हिस्सा लिया था। कालांतर में वे इस्रायल की कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्य बनीं जहाँ उनकी मुलाकात पार्टी सेक्रेटरी सलीबा खमीस से हुई जो एक अरब ईसाई थे। बाद में दोनों ने शादी कर ली। जुलियानो का नाम एक खूबसूरत इटैलियन डाकू सेल्वाटोर गिलियानो के नाम पर रखा गया, जिसने इटली के ज़मींदारों के विरुद्ध हुए भूमिहीन किसानों के विद्रोह का नेतृत्व किया था।

एक संयोजक पहचान वाला शख्स जुलियानो एक इस्रायली-अरब-ईसाई यहूदी थे। या जैसा कि वे कहते थे मैं सौ प्रतिशत फिलीस्तीनी हूँ और सौ प्रतिशत यहूदी।

अर्ना जेनिन के शरणार्थी शिविर में काम करती थीं। यह संभवतः फिलीस्तीन के सभी शिविरों में बदतरिन है। वे बच्चों को थियेटर गतिविधियों में शामिल करती थीं। ये वे बच्चे थे जिनके लिए घरों और जीविका की तबाही जीवन का एक सच था और जिनके लिए मौत रोज़मर्रा का एक मसला।

2003 की जुलियानो की पुरस्कृत डाक्यूमेंट्री 'अर्ना के बच्चे' (अर्नास चिल्ड्रेन) इस काम को और बहुत सी दूसरी चीज़ों को तरतीबवार पेश करता है। यह फिल्म हमारे समय की सबसे मानीखेज़ दस्तावेज़ है-ये कब्जे के दौरान की ज़िंदगी के बारे में एक नज़रिया देती है और इससे भी ज़्यादा कि इसने पहली बार दुनिया

को दूसरे इतिहादा के दौरान लड़ने और विरोध करने वाले युवाओं की शख्सियत और कहानियों से रूबरू करवाया। 1993 में अल्टरनेट नोबल पुरस्कार से सम्मानित अर्ना ने जब 80 के दशक के उत्तरार्ध और 90 के दशक के पूर्वार्द्ध में उनके साथ काम किया था तो वे किशोर भी नहीं थे। उनमें से 10 बच्चे थे जो अर्ना के बेहद करीब थे।

सालों बाद जुलियानो अर्ना के उन 10 बच्चों की तलाश में वापस जेनिन लौटे। वे सभी फतह के चरमपंथी थे। इनमें से छः मारे जा चुके थे और बाकी बचे दो की इस्रायल को तलाश थी।

इस फिल्म में हम युवा अला को अपने घर के मलबे पर उदासीन भाव से बैठा पाते हैं। अर्ना इसके बारे में बच्चों से बात करती हैं। अला कल अपने रिश्तेदारों के घर क्यों सोया वे पूछती हैं। अला के बगल में फरिश्तों सी शक्ल वाला अशरफ बैठा है। वह अला का पड़ोसी है। जब उन्होंने अला का घर तबाह किया अशरफ का घर भी तबाह हो गया।

अर्ना ने पूछा-ये किसने किया। इस्रायली सेना ने-अशरफ ने बताया। तुम उस सेना के साथ क्या करोगे-अर्ना ने पूछा। अशरफ ने कहा-मैं उन्हें मार डालूंगा। अर्ना ने कहा-मुझे दिखाओ मैं सेना हूँ। अशरफ उठा और खिलवाड़ में अर्ना को मारने लगा। तब अर्ना ने बच्चे को कागज़ दिया जिसे उन्होंने चिंदी-चिंदी कर डाला। ठीक है, अर्ना ने कहा-यह गुस्सा है और जब हम गुस्सा होते हैं तो इसे अभिव्यक्त करना चाहिए। तब उसने कागज़ और रंग दिया और उनसे अपना रोष व्यक्त करने को कहा।

सालों बाद जब अशरफ मर चुका है और अला एक लड़ाका बन चुका है, जुलियानो उससे मिलता है और पूछता है कि क्या उसे अर्ना की कार्यशाला में नन्हे अला की बनाई हुई पेंटिंग की अभी भी याद है। हाँ, अला ने कहा। वह एक घर था जिस पर फिलीस्तीनी झंडा था। फिल्म के अंत में अला भी मारा जाता है।

अपने एक इंटरव्यू में जुलियानो ने फ्रीडम थियेटर में अपनी माँ के और अपने काम के बारे में बात की।

जेनिन में आपको बच्चों का उपचार नहीं करना था। हमने उनकी हिंसा पर मलहम लगाने की कोशिश नहीं की। हम इसे अधिक सृजनात्मक तरीकों से चुनौती देने की कोशिश कर रहे थे। थियेटर में स्वतंत्रता के लिए फिलीस्तीनियों में संघर्ष और प्रतिरोध का विकल्प या स्थानापन्न बनने की कोशिश नहीं कर रहे थे बल्कि हम ठीक इसके विपरीत कर रहे थे। यह मुझे पता है यह फंड इकट्ठा करने के लिए ठीक नहीं है, चूँकि मैं एक सामाजिक कार्यकर्ता नहीं हूँ मैं अरबों की मदद करने वाला एक अच्छा यहूदी भी नहीं हूँ और न ही मैं एक मानवतावादी फिलीस्तीनी हूँ जो गरीबों को खाना खिलाने आते हैं। हम सभी साधनों, सभी तरीकों से फिलीस्तीनी जनता के स्वाधीनता संघर्ष में शामिल हैं जो कि हमारा स्वाधीनता संघर्ष है। हम मलहम लगाने वाले नहीं हैं। हम अच्छे ईसाई नहीं हैं। हम आज़ादी के लिए लड़ने वाले हैं।

फ्रीडम थियेटर - अर्ना मीर की मौत 1994 में कैसर से हुई।

2002 में दूसरे इतिफादा के दौरान उनका थियेटर तबाह हो गया। चार साल बाद फ्रीडम थियेटर का जन्म हुआ। जुलियानो ने लिखा-‘फ्रीडम थियेटर शिविर के बच्चों को खुद को अभिव्यक्त करने और रचने के लिए शान्त माहौल प्रदान करेगा। मीर खमिस के अलावा कुछ महत्वपूर्ण लोग जिन्होंने इस थियेटर की स्थापना में भागीदारी निभाई, वे थे ज़कारिया जुबिदी-अल अन्सा शहीदी ब्रिगेड का पूर्व सैनिक नेता, जोनाथन स्टैन्जक एक स्वीडिश-इस्रायली कार्यकर्ता और न्दोर फिलर एक स्वीडिश इस्रायली कलाकार। पिछले 5 सालों में दुनिया भर से कई कलाकार वहाँ गए और फ्रीडम थियेटर के साथ काम किया।

जेनिन में काम करना आसान नहीं था। इंटरनेट पर फिलीस्तीनी बच्चे टाइप कर सड़क पर उनकी तस्वीरें ढूँढने की कोशिश कीजिए। हज़ारों चित्र मिलेंगे-घायल और मृत बच्चों के, इस्रायली टैंक पर पत्थर फेंकते बच्चों के। चौकाने वाली बात यह है कि किसी भी पार्क या खेल के मैदान की तस्वीर नहीं मिलेगी। फिलीस्तीन एक ऐसा मुल्क है जहाँ खेल के मैदान नहीं हैं। इन हालातों में बच्चों के साथ काम करने की अपनी चुनौतियाँ हैं। मीर खमिस ने एक इंटरव्यू में कहा-‘हमारे हर छात्र के शरीर और मन पर गोलियों के घावों के, भयानक पिटाई, यंत्रणा और मानसिक आघात के निशानात हैं। यह सत्ता कब्ज़ा करने की जुबान है। इस्रायल ने पुस्तकालय, सांस्कृतिक केंद्र और फिलीस्तीन क्षेत्र के स्कूल नष्ट कर दिये और अलग-अलग इलाकों के लोगों के आपसी संपर्कों पर बंदिश लगा दीं। यह ऐसा ही है कि रोशनी गुल कीजिए और फिलीस्तीनियों की ज़िंदगी रुक जाएगी। कब्ज़े में ज़िंदगी सिर्फ अस्तित्व की भौतिक परिस्थितियों के कारण ही मुश्किल नहीं होती। कब्ज़ा कल्पना का शोषण करता है, बल्कि बच्चों की शख्सियत तबाह करता है, उनके बचपन के अधिकार छीन लेता है।

फ्रीडम थियेटर की स्थापना से पहले बहुत से निवासियों ने कभी कोई नाटक नहीं देखा था, थियेटर की किसी गतिविधि में शामिल होना तो दूर की बात थी। थियेटर को समुदाय का भरोसा जीतना था, एक असंभव सी चुनौती से जूझना था कि लड़के-लड़कियाँ एक साथ काम करें और यह ऐसे मुद्दे भी उठाना

चाहता था जो समाज के लिए टैबू थे। ‘इस्रायली कब्जे का एक लक्ष्य जीतना और बाँटना है, और मैं अफसोस के साथ कहता हूँ कि वे इसमें सफल हो रहे हैं’ मीर खमिस ने कहा। इसके अलावा कब्जे में रहने का मतलब है कि फिलीस्तीनियों की संस्कृति और पहचान भी मिटने के कगार पर है। थियेटर उपनिवेश बन चुके लोगों की गरिमा बहाल करने में मदद करता है और क्षमता तथा न्याय की लड़ाई में एक हथियार बनता है।

ज़कारिया जुबिदी एक जीता-जागता बयान है कि कैसे थियेटर ज़िंदगी बदल सकता है। इस भूतपूर्व उग्रवादी ने हथियार छोड़ दिये, इस्रायली राज्य से पूर्ण क्षमा पाई और कब्जे के खिलाफ सांस्कृतिक संघर्ष में शामिल हो गया।

सवाल यह उठता है कि जुलियानो की हत्या किसने की। कोई यह सोच सकता है कि इस्रायली उसके काम को खतरे की तरह ले रहे थे। हो सकता है। पर उनका काम जेनिन के इस्लामिक कट्टरपंथियों के लिए भी खतरा था। फ्रीडम थियेटर द्वारा प्रस्तुत ‘एनिमल फॉर्म’ का नाट्य रूपांतरण उनके रोष का कारण बना क्योंकि इसका एक पात्र सूअर है। किसी ने जेनिन में फ्रीडम थियेटर के खिलाफ पर्चे बाँटे और मीर खमिस पर ज़ियनवादी होने का आरोप लगाया गया।

‘इस्लामिक कट्टरपंथियों को इस बात ने बहुत परेशान किया है कि एक आदमी जो आधा यहूदी है, वह फिलीस्तीनी वेस्ट बैंक के सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रोजेक्ट का मुखिया है और यह एक छद्म नस्लवाद है।’ मीर खमिस ने कहा-‘मैं कभी भी इतना यहूदी नहीं रहा जैसा कि मैं अब जेनिन में हूँ।

‘शिविर में अपने कामों के बाद किसी फिलीस्तीनी की गोली का शिकार होना अत्याधिक दुर्भाग्यपूर्ण होगा।’

जुलियानो उसी कब्रगाह में दफन हैं जहाँ उनकी माँ की कब्र है। विडंबना है कि जब उनकी माँ अर्ना मीर खमिस की मौत हुई तो यहूदी रब्बियों (धर्मगुरुओं) ने उनके कब्र के लिए ज़मीन देने से इन्कार कर दिया था क्योंकि वे फिलीस्तीनी आज़ादी के हक में थीं। उसका बेटा एक फिलीस्तीनी हत्यारे की गोली का शिकार इसलिए बना क्योंकि वह एक यहूदी माँ की संतान था।

साभार : बरगद

## फिलीस्तीन में मरना

मेरी माँ दफनाई नहीं जा सकी क्योंकि वे अपनी आउट पर किसी धार्मिक संस्कार के खिलाफ थीं। इस्राइल में जनतंत्र नहीं, धर्मतंत्र है। धर्म को राज्य से अलगाया नहीं गया है सो जिन्दगी से जुड़े सभी पक्ष-विवाह, अंतिम संस्कार और भी कई पक्ष धर्माधिकारियों द्वारा नियंत्रित होते हैं। इसे करने का सिर्फ एक तरीका था की किसी किबुत्ज़ीम में जमीन का एक टुकड़ा खरीद लिया जाए, पर, यहाँ भी मेरी माँ के राजनीतिक विचारों के कारण न ही हासिल हुई... मुझे अपनी माँ का ताबूत घर लाना पड़ा और तीन दिनों तक मेरी मृत माँ का शरीर मेरे घर पर रहा और मैं उन्हें दफनाने के लिए कोई जगह नहीं ढूँढ सका। मैंने एक प्रेस कॉन्फ्रेंस में यह घोषणा की कि मैं उन्हें अपने बगीचे में दफनाने जा रहा हूँ। एक तूफान बरपा हो गया। पुलिस आई, मीडिया की भीड़ लग गयी, मेरे खिलाफ हिंसक धमकियाँ जारी की गयीं। मेरे घर के आस-पास बड़े प्रदर्शन हुए, तब एक किबुत्ज़ से मेरे दोस्तों का फोन आया... उन्होंने मुझे वहाँ जमीन का एक टुकड़ा देने की बात की। और मजेदार बात यह थी की जब हम अपनी माँ को दफनाने के लिए जमीन का एक टुकड़ा तलाश रहे थे। जेनिन में यह बहस चल रही थी कि माँ को दफनाने के लिए शहीदों के कब्रिस्तान में जगह दी जाये। उन्होंने मुझे बताया कि एक फतह नेता ने मजाकिया लहजे में कहा, देखो यह सम्मान कि बात है कि अर्ना यहाँ हमारे बीच रहे, यह एक बार सम्मान है, सिर्फ एक दिक्कत है कि संभवतः 50 सालों बाद कोई यहूदी पुरातत्ववेत्ता यहां आये और कहे कि यहाँ कुछ यहूदी हड्डियाँ हैं और वे जेनिन की जमीन को जब्त करने जा रहे हैं वे ऐसा करते हैं। अगर एक कुत्ते को भी यहूदी हड्डियाँ मिल जाएँ तो वे जमीन ले लेते हैं... हर जगह वे जहाँ भी कब्ज़ा करते हैं वे यहूदी हड्डियाँ पाते हैं और इस तरह वे इस जमीन पर अपने कब्जे को जायज ठहराते हैं।

### सफ़र इलाज का

...पिछले अंक से जारी

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली को बढ़ावा देने में व्यापारियों की रुचि क्यों थी?

डॉक्टरों का एकाधिकार स्थापित होने में यों तो चर्च की भूमिका महत्वपूर्ण रही किन्तु चिकित्सा शिक्षा व अनुसंधान को बढ़ावा देने में मूलतः व्यापारियों ने ही अहम भूमिका अदा की। डॉक्टरों और चर्च का स्वार्थ समझना तो आसान है परंतु इसमें व्यापारियों का क्या स्वार्थ था? उन्होंने क्यों चिकित्सा शिक्षा व अनुसंधान में पैसा लगाया? हम पश्चिमी देशों में आधुनिक प्रणाली के विकास के उस दौर पर गौर करेंगे जब व्यापारी समाज के शक्तिशाली तबके के रूप में उभर रहे थे।

आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का विकास ऐसे वक्त में हुआ जब पश्चिमी देशों के लोगों की जीवन-शैली में जबर्दस्त बदलाव आ रहे थे। पहले जीविका का प्रमुख आधार खेती था। अब उसका स्थान व्यापार और कारखाने ले रहे थे व्यापारी और उद्योगपति समाज के नए शक्तिशाली वर्ग के रूप में उभर रहे थे। जीविका के आधार में इस परिवर्तन के फलस्वरूप लोगों के जीवन में अन्य बदलाव भी आए।

पहले जब खेती जीविका का प्रमुख साधन थी तब अधिकतर लोग काश्तकार या बंधुआ मजदूर के रूप में खेतीबाड़ी का काम करते थे। लगभग सारी उपज पर भूस्वामी का अधिकार होता था। परिवार को अपनी जरूरतें खुद ही पूरी करनी होती थी। अतः लोग अपनी जरूरत का अनाज, कपड़े, साबुन, मोमबत्तियाँ वगैरह सब खुद पैदा करते थे। परिवार खुद जो चीजें पैदा न कर पाता, वे गाँव से वस्तु-विनिमय के आधार पर प्राप्त कर ली जातीं।

बीमारी के इलाज का इंतजाम भी परिवार को खुद ही करना होता था। घरेलू उपचार और जड़ी-बूटियों की जानकारी पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती थी। मरीज की देखभाल और इलाज के इस काम में औरतों की सक्रिय भूमिका होती थी।

यूरोप और अमरीका में, धीरे-धीरे खेतीबाड़ी की जगह व्यापार और कारखाने जीविका के आधार बनने लगे। यह बदलाव कई तरह से आया। कई देशों में ज़मीन काश्तकारों से छीन ली गई और खेती का कामकाज मजदूरों से करवाया जाने लगा। कुछ जगहों पर जो स्वतंत्र किसान थे, वे कर्ज के कारण अपनी जमीन गंवा बैठे। कुछ

देशों में खेती के लिए बड़े पैमाने पर मशीनों का उपयोग होने लगा तथा श्रमिकों की जरूरत कम हो गई। कुछ देशों में ज़मींदारों ने खेती करना ही बंद कर दिया। इसके स्थान पर वे भेड़ें पालने लगे ताकि बाजार के लिए ऊन का उत्पादन कर सकें। जो भी कारण रहे हों, पर कुल मिलाकर बात यह है कि बड़ी संख्या में ग्रामीण लोगों को खेती छोड़कर रोजगार की तलाश में निकलना पड़ा। नौकरियां सिर्फ नये कारखानों में ही उपलब्ध थीं। तो, ज़मींदार के लिए काम करने की बजाय अब ये लोग कारखाना मालिकों के लिए काम करने लगे।

अब लोग अपनी जरूरत की चीजें खाना, कपड़ा वगैरह खुद पैदा नहीं करते थे। सारे उत्पादन पर कारखाने के मालिक का हक होता था। वह इन सारी वस्तुओं को बाज़ार में बेचता था। अतः लोग मजदूरी के बदले अपना श्रम बेचने को मजबूर हो गए। इस मजदूरी से वे अपनी जरूरत की वस्तुएं बाजार से खरीदते थे। इस तरह कामगारों का एक नया समूह मजदूर वर्ग उभरा, जो अपनी जीविका के लिए कारखाने के मालिक पर निर्भर था, ठीक उसी तरह जैसे कारखाने के मालिकों और व्यापारियों के शक्तिशाली समूह उभरे।

कारखाने के मालिक मजदूरों की मजबूरी का फायदा उठाकर कम से कम मजदूरी के बदले ज्यादा-से-ज्यादा काम करवाते थे। चूंकि कारखानों में लोग काम करने पर मजबूर थे। इसलिए मालिक लोग काम की मनमानी शर्तें तय करते थे। मालिकों का स्वार्थ यह था कि मजदूरों को कम-से-कम मजदूरी देकर अधिक-से-अधिक घंटे काम करवाएं। आखिर मालिकों का मुनाफा मजदूरों द्वारा किए गए काम में से ही तो निकलता है। इसलिए मजदूरी इतनी कम होती थी कि पूरा परिवार कमाए, तो भी बुनियादी जरूरतें पूरी नहीं होती थी।

काम की परिस्थितियां भी भयानक थीं। लोगों को दिन में सोलह-सोलह घंटे काम करना पड़ता था। सुरक्षा के कोई उपाय नहीं होते थे। कारखानों में भीड़, शोरगुल, कम रोशनी और घुटन का वातावरण होता था। जैसे-जैसे लोग काम की तलाश में शहर पहुंचने लगे, वैसे-वैसे रहन-सहन के हालातों में भी गिरावट आई। शहर की बस्तियां घनी होती गईं, कूड़ा जमा होने लगा, वगैरह। गांवों से शहर की तरफ पलायन के कारण पारिवारिक संबंध टूटने लगे। गांवों में कई तरह से लोग एक-दूसरे को सहारा देते थे। अब यह भी टूटने लगा।

इन सब बातों का मिला-जुला असर यह हुआ कि बीमारियां तेजी से बढ़ीं। महामारियां बढ़ गईं। मृत्यु दर भी बढ़ गई और कामगारों की औसत आयु कम हो गई। मसलन, बावरिया में शिशु मृत्यु दर प्रति हजार जीवित जन्म पर 449 तक पहुंच गई। 1852 में यूरोप में कपड़ा मिलों की मजदूरियों में टी.बी. की दर 22 प्रति 1000 थी जो 1861 में 125 प्रति हजार पहुंच गई।

**व्यापारियों ने आधुनिक चिकित्सा को बढ़ावा क्यों दिया?**

शहरों में बीमारी और मृत्यु की बढ़ी हुई दर से लोगों में चिन्ता व्याप्त थी। यह वह समय था जब बीमारियों और गंदगी, गंदे पानी, अस्वच्छ वातावरण आदि का संबंध साफ दिखने लगा था। साथ ही यह भी स्पष्ट होने लगा था कि झोंपड़पट्टियों में जन्मी बीमारियां उन जगहों पर भी पहुंचेगी जहां संपन्न लोग रहते थे। प्लेग और हैजे की महामारियों से यह बात साबित हो चुकी थी। तो, एक डर तो यह था कि अमीर लोग भी बीमार होंगे और मरेंगे। अमीर लोगों को दूसरी चिन्ता यह भी सताती थी कि बीमारी के कारण मजदूरों की कार्यक्षमता कम हो जाएगी।

शुरुआत में तो कारखाना मालिकों ने इस समस्या का हल यह निकाला कि वे देहातों से नए तंदुरुस्त मजदूर ले आते। परंतु बिगड़ती परिस्थितियों के फलस्वरूप मजदूरों के संगठन उभरने लगे। ये संगठन बेहतर मजदूरी, कार्य परिस्थितियों की मांग करते थे। इन संगठनों ने बाहर से मजदूर लाने पर रोक लगाकर बेहतर मजदूरी पाने और काम के घंटे कम करवाने में सफलता प्राप्त की। परंतु इसके कारण मालिक का मुनाफा कम हो गया क्योंकि अब मजदूरी ज्यादा देनी पड़ती थी और बदले में काम कम होता था। इसके अलावा मजदूर कई बार बीमारी के कारण काम पर नहीं आ पाते थे। इससे भी मुनाफे में कमी हो जाती थी। इन सारे कारणों की वजह से कारखाना मालिकों को मजदूरों के स्वास्थ्य पर ध्यान देना पड़ा। बीमारी की रोकथाम से उत्पादन भी बढ़ेगा और अमीर लोगों तक बीमारी के पहुंचने का खतरा भी कम हो जाएगा। यह सोचकर कारखाने के मालिकों ने सरकार पर दबाव डाला कि वह पानी, साफ-सफाई, आवास आदि सुविधाओं पर पैसा लगाए।

इसी समय चिकित्सा विज्ञान के कई क्षेत्रों में विकास हो रहा था, (जैसे बैक्टीरिया विज्ञान, मानव शरीर क्रिया विज्ञान, रोग निदान विज्ञान, पेथालाजी, चिकित्सा टेक्नोलॉजी वगैरह)। इसी समय बीमारी का कीटाणु सिद्धांत भी लोकप्रिय होने लगा था। इन सबकी बदौलत बीमारियों का प्रत्यक्ष कारण पहचानकर उसका इलाज करना संभव हो चला था। कारखाना मालिक तो चाहते ही थे कि बीमारियों पर नियंत्रण किया जाए और बीमारी

की अवधि को कम किया जाए। वे यह भी चाहते थे कि इंसान की शक्ति का ज्यादा से ज्यादा इस्तेमाल हो सके। इसलिए उन्होंने आधुनिक चिकित्साशास्त्र के विकास और अनुसंधान में बड़े पैमाने पर पैसा लगाना शुरू किया। वे समझ चुके थे कि स्वास्थ्य सुविधाओं के विकास पर पैसा लगाने में अन्ततः उनका ही फायदा है। आधुनिक चिकित्साशास्त्र को बढ़ावा देने का एक और भी फायदा था। इससे पूरा ध्यान बीमारी के मूल कारणों यानी सामाजिक परिस्थितियों पर से हटकर तात्कालिक कारण यानी कीटाणु पर केंद्रित हो गया। कीटाणु सिद्धांत से समाज में व्याप्त शोषण पर पर्दा डालने में मदद मिली। बीमारी का कारण अपर्याप्त भोजन, रहन-सहन और काम के बुरे हालातों में खोजने की बजाय अब यह कहा जाने लगा कि बीमारी तो कीटाणु की वजह से होती है। काम की शोचनीय परिस्थिति के लिए मालिक को दोष देने की बजाय अब लोगों को ही दोषी ठहराया जा सकता था कि वे अपने अज्ञान के कारण साफ-सफाई की तरफ ध्यान नहीं देते। इस प्रकार से बीमारी का दोष लोगों पर डाला जा सकता था। चिकित्साविज्ञान ने तो बीमारी का प्रत्यक्ष कारण कीटाणु खोज निकाला था। परंतु इसके कारण अस्वस्थता की जिम्मेदारी समाज से हटकर खुद व्यक्ति पर आ पड़ी। स्वास्थ्य शिक्षा, स्कूलों, संचार माध्यमों, आदि के जरिये इस नये सिद्धांत का जोर-शोर से प्रचार किया गया। बीमारी अब खुद व्यक्ति की जिम्मेदारी बन गई और व्यक्ति का इलाज करने वाली अस्पताली स्वास्थ्य प्रणाली चल निकली। स्वास्थ्य समाज से स्वतंत्र और निरपेक्ष विषय हो गया, मानो व्यापारिक जीवन शैली और उससे पैदा होने वाली समस्याओं से उसका कुछ लेना-देना ही न हो। पहले ही कहा जा चुका है कि मजदूरों का स्वास्थ्य मालिकों के लिए महत्वपूर्ण था। अतः उन्होंने सरकार पर दबाव डालकर अस्पताल खुलवाए। मजदूरों के स्वास्थ्य में सुधार लाने के लिए उन्होंने अनुसंधान पर खुद भी पैसा खर्च किया।

**व्यापारियों ने आधुनिक चिकित्साशास्त्र का अपने आर्थिक हितों के लिए कैसे उपयोग किया?**

टीकों व बीमारी की रोकथाम के अन्य उपाय विकसित हो जाने पर कारखाने के मालिक और व्यापारी बीमारी के खिलाफ मुहिम में पैसा लगाने लगे, बशर्ते कि इसमें उन्हें फायदा दिखे। हालांकि ये लोग मजदूरों की कार्यक्षमता और उत्पादन बढ़ाने की दृष्टि से पैसा खर्च करते थे परंतु इससे उनकी दयालु छवि बनती थी। माल उत्पादन की शोषणपूर्ण प्रक्रिया में कई बार मालिकों और मजदूरों के बीच टकराव की स्थिति बन जाती थी। ऐसी स्थिति में स्वास्थ्य सुविधा मुहैया करवाकर शोषण के मुद्दे से ध्यान हटाने में सफलता मिली। तो, स्वास्थ्य सुविधा एक ऐसा औजार बन गई जिसके

माध्यम से मजदूरों के असंतोष को दबाया जा सकता था।

यह बात राकफेलर के उदाहरण से और स्पष्ट हो जाती है। राकफेलर एक बड़ा उद्योगपति था। उसने अमरीका के दक्षिणी प्रांतों में सार्वजनिक स्वास्थ्य कार्यक्रम विकसित किए। 1860-65 के गृह युद्ध के बाद दास प्रथा समाप्त हो जाने से इन प्रांतों की अर्थव्यवस्था चौपट हो गई थी। पिछली सदी के अंतिम सालों में राकफेलर जैसे व्यापारी अपना कारोबार इन प्रांतों में फैलाना चाहते थे। खेतों और कारखानों दोनों जगह मजदूरों की उत्पादकता बहुत कम थी। इसका मुख्य कारण बीमारियां थीं जिनकी वजह से मजदूरों का बहुत सारा वक्त जाया होता था।

### बेहतर व्यापारिक समझ!

देहाती इलाकों में अंकुश कृमि (हुक वर्म) सबसे बड़ी समस्या थी। राकफेलर स्वच्छता आयोग (सेनिटरी कमीशन) ने इस बीमारी के खिलाफ एक जन अभियान शुरू किया। अंकुश कृमि विरोधी अभियान में, स्थानीय किसान संगठनों को भी शामिल किया गया। ये संगठन इससे पहले कई लोकप्रिय विद्रोहों के अगुआ रहे थे। इन किसान संगठनों को साथ लेने और किसानों के स्वास्थ्य सुधार में मदद न देने के कारण, किसानों के मन में बड़े व्यापारियों के प्रति जो रोष था उसे कम करने में सहायता मिली।

इन अभियानों से मजदूरों की उत्पादकता में तेजी से वृद्धि हुई। 'अंकुश कृमि के इलाज का आर्थिक महत्व' नामक रिपोर्ट (1918) में यह बात साफ उभर कर आती है। कोस्टारिका के दो चाय बागानों में 320 मजदूर काम करते थे। इस रिपोर्ट के अनुसार उनकी उत्पादकता में नाटकीय वृद्धि हुई। एक अन्य बागान में उतने ही मजदूर अब 50 प्रतिशत ज़्यादा भूमि पर काम करते थे। इसके अलावा इलाज की वजह से मजदूरों की ताकत भी बढ़ी। इसके फलस्वरूप ये मजदूर अब पहले से ज्यादा घंटे ज्यादा कड़ी मेहनत कर सकते थे। इस प्रकार से बागान मालिक का खर्चा कम हो गया। बढ़ी हुई उत्पादकता से कामगारों की मजदूरी तो बढ़ी पर ज़्यादा फायदा मालिक को मिला।

तो, यह स्पष्ट है कि स्वास्थ्य अभियान का प्रमुख लक्ष्य अंकुश कृमि नहीं था। ये अभियान मूलतः उत्पादकता और मुनाफा बढ़ाने के लिए चलाए गए थे। इसके अलावा इनसे मालिकों और मजदूरों दोनों की एक सामान्य जरूरत पूरी होती थी। इससे मजदूरों और मालिकों के बीच टकराव कम करने में भी मदद मिली।

जब पश्चिमी देशों ने औपनिवेशिकता के जरिये अन्य देशों में अपनी आर्थिक गतिविधियां फैलाना शुरू कीं, तो वहां भी यही रणनीति अपनायी गई। पश्चिमी देशों ने अन्य देशों को अपना उपनिवेश बनाया। (उपनिवेश का अर्थ होता है कि एक देश

द्वारा दूसरे देश पर अधिकार जमाना और उसके संसाधनों का बलपूर्वक दोहन करना। जो देश अधिकार करते हैं वे उपनिवेश कहलाते हैं।) पश्चिमी देशों ने अन्य देशों को फतह किया ताकि उनके संसाधनों व सस्ते श्रम का दोहन कर सकें। उपनिवेशवादी देशों ने अन्य देशों में फसल चक्र बदले, जंगल काटे, बांध बनाए और परिणामस्वरूप नई-नई स्वास्थ्य समस्याएं पैदा कीं। फिर जब कभी भी बीमारियों के कारण उनकी आर्थिक गतिविधियों में रुकावट आई, लोगों का शोषण किया और साथ-साथ स्वास्थ्य सुविधाएं देकर दयालु होने का श्रेय भी लूटा।

जहां एक तरफ आर्थिक शोषण और फौजी घुसपैठ, अमरीकी व्यापार के फैलाव के घृणास्पद पहलू थे, वहीं दूसरी तरफ, स्वास्थ्य सुविधा और सार्वजनिक स्वास्थ्य के उपायों को अमरीकी हस्तक्षेप के मानवीय पहलू के रूप में पेश किया गया और इसे प्रायः मान्यता भी मिली। (एच. कलेवर)

तीसरी दुनिया के देशों में अपने आर्थिक हितों को फैलाने के सिलसिले में उपनिवेशवादियों को नई उष्णकटिबंधीय बीमारियों का सामना करना पड़ा। उनके शरीर इन बीमारियों के आदी नहीं थे। अतः उन पर ज्यादा असर होता था। दूसरी बात यह थी कि अपने आर्थिक हितों को साधने के चक्कर में वे कई बार ऐसे क्रियाकलाप करते थे कि इन बीमारियों का प्रकोप बढ़ जाता था। उदाहरण के लिए, स्लीपिंग सिकलेस (निद्रा रोग) अफ्रीका की स्थानीय बीमारी थी। परंतु यह कोई बड़ी समस्या नहीं थी। इस बीमारी को फैलाने वाली त्से त्से मक्खी झाड़ियों के कारण नियंत्रण में रहती थी। अफ्रीकी लोग उन इलाकों में रहते भी नहीं थे, जहां त्से-त्से मक्खी ज्यादा हों। उपनिवेशवादियों ने खेती करने हेतु अंधाधुंध जंगल काटे और झाड़ियां साफ कर दीं। इसकी वजह से निद्रा रोग एक महामारी बन गया। इसलिए निद्रा रोग पर काबू पाना जरूरी हो गया क्योंकि उपनिवेशवादी अफ्रीका के सस्ते मजदूरों का शोषण करना चाहते थे। यही कारण था कि पश्चिमी देशों में उष्ण-कटिबंधीय रोगों के संस्थान बनाए गए। इन संस्थानों के लिए पश्चिमी देशों की सरकारों और व्यापारियों ने पैसा दिया।

भारत में ब्रिटिश हुकूमत के दौरान भी यही किस्सा दोहराया गया। भारत में प्राकृतिक संसाधनों, कच्चे माल और सस्ते श्रम का दोहन करने के लिए ब्रिटेन ने भारत पर अपना राज जमाया। उन्होंने भारत में यातायात के साधनों जैसे सड़कों, रेलों, पुलों आदि का निर्माण भी इसी उद्देश्य से किया। बांध और सिंचाई की सुविधाएं विकसित की गईं, ताकि फसल पैदा करके देश से बाहर भेजी जा सके। अपने आर्थिक हितों को पूरा करने के चक्कर में ब्रिटिश लोग बहुधा ऐसे काम करते थे, जिनसे



बीमारियां बढ़ती थीं।

ब्रिटिश शासकों द्वारा स्थापित एक समिति का निष्कर्ष था कि भारत में मलेरिया, टी.बी., अंकुश कृमि, कोढ़ और यौन रोगों के प्रकोप में वृद्धि हुई है। समिति का मत था कि इस वृद्धि के कारण ब्रिटिश शासन द्वारा किए गए सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन हैं। मसलन, मलेरिया के बारे में समिति ने कहा कि, “त्रासदी यह है कि घनी आबादी वाले इलाकों में मलेरिया का प्रकोप मानव निर्मित है। कई मामलों में इसका श्रेय सड़कों और रेलवे को जाता है। इनके बनने से पानी का स्वाभाविक बहाव रुकता है और मच्छर के लिए अनुकूल परिस्थिति बन जाती है। इसके इलावा खन्तियां भी मच्छरों के प्रजनन के लिए उपयुक्त स्थल हैं। सुक्कर बराज और मेतूर सिंचाई परियोजना इस तरह के (मलेरिया रोधी) उपायों के अभाव की मिसाल हैं। दोनों ही मामलों में बड़े पैमाने पर मलेरिया फैला, जबकि पहले ये इलाके मलेरिया से मुक्त थे।” (भोर समिति)

हालांकि भारत में बीमारियों की वृद्धि के लिए ब्रिटिश जिम्मेदार थे परंतु उन्होंने स्वास्थ्य संबंधी उपाय तभी किए जब खुद उन पर इसका प्रभाव पड़ने लगा। जैसे 1859 में भारत में नियुक्त ब्रिटिश फौज की सेहत की शोचनीय स्थिति की जांच के लिए एक आयोग बनाया गया। इस आयोग ने प्रत्येक प्रेसिडेन्सी में एक सार्वजनिक स्वास्थ्य आयोग की स्थापना का सुझाव दिया। आयोग ने पानी की सप्लाई और नालियां बनाने के महत्व पर भी जोर दिया। आयोग का मत था कि ब्रिटिश फौज की सेहत की सुरक्षा की दृष्टि से जरूरी है कि आम आदमी में भी बीमारियों को फैलने से रोका जाए।

आयोग की रिपोर्ट के बावजूद सार्वजनिक स्वास्थ्य संबंधी उपायों को लागू करने की कोई गम्भीर कोशिश नहीं की गई। सिर्फ 1880 में एक कानून बनाकर आम लोगों के लिए चेचक व हैजे के टीके लगवाना अनिवार्य कर दिया गया। गम्भीर प्रयास सिर्फ उन इलाकों में किए गए, जहां बीमारियों के कारण आर्थिक क्रियाकलापों पर असर पड़ने लगा, जैसे रायपुर-विशाखापट्टनम रेल लाइन का निर्माण तभी संभव हो पाया, जब मलेरिया पर काबू पा लिया गया। इसी प्रकार से मेतूर बांध और सारदा नहर का निर्माण मलेरिया नियंत्रण कार्यक्रम की मदद से ही पूरा हो सका।

देश के शेष इलाकों में बीमारियों की रोकथाम में ब्रिटिश सरकार की कोई दिलचस्पी नहीं थीं, हालांकि उसके पास साधन थे। इसका एक सबूत यह है कि ब्रिटिश सरकार ने उन बीमारियों की रोकथाम का कभी कोई प्रयास नहीं किया, जो उसके प्रोजेक्टों की वजह से पैदा हुई थीं। जैसे मेतूर बांध बनाने

के लिए ब्रिटिश सरकार ने मलेरिया पर नियंत्रण किया। परंतु बांध बन जाने के बाद जब मलेरिया फैला तो सरकार ने रोकथाम की कोई कोशिश नहीं की। सन् 1946 में भोर समिति की रिपोर्ट से भी यह बात जाहिर है-

“अधिकारियों द्वारा मलेरिया नियंत्रण की कार्यवाही की समीक्षा में यह कहना जरूरी है कि ये प्रयास अपर्याप्त रहे हैं और इनसे राष्ट्रीय स्तर पर मलेरिया के प्रकोप पर न के बराबर असर हुआ है।...खदानों और बागानों में अंकुश कृमि के व्यापक प्रकोप से साफ है कि इन इलाकों में मजदूरों से संबंधित अधिकारी स्वच्छता संबंधी उपायों का कितना ध्यान रखते हैं।”

इसी रिपोर्ट के मुताबिक ब्रिटिश शासन द्वारा टी.बी. नियंत्रण के पर्याप्त उपाय न किए जाने का कारण यह है कि :

“टी.बी. जैसी समाज-जनित बीमारी का सामना व्यापक पैमाने पर ऐसे उपायों से ही संभव है जिनसे लोगों के सामान्य जीवन स्तर, जैसे आवास, पोषण, घर व काम की जगह पर स्वच्छता आदि में सुधार आए। स्वस्थ पर्यावरण की दिशा में प्रयास अभी शुरू नहीं हो पाए हैं क्योंकि एक तो इसकी लागत बहुत ज्यादा है और दूसरा लोगों में शिक्षा का प्रसार भी नहीं हुआ है कि वे इसके महत्व को समझें और बेहतर जीवन स्तर की मांग करें।”

अमरीका के दक्षिणी प्रान्त के कामगारों की तरह भारतीय मजदूर विद्रोह करने की स्थिति में नहीं थे क्योंकि यहां पर अंग्रेजी फौज का नियंत्रण था। इसलिए अंग्रेजों ने स्वास्थ्य कार्यक्रमों पर पैसा अपनी प्राथमिकताओं के अनुसार लगाया। चेचक, प्लेग और हैजा उनकी तीन प्राथमिकताएं थीं। 19वीं सदी में तीन-चार बार हैजे की विश्वव्यापी महामारी फैली थी। यूरोप, ब्रिटिश द्वीप समूह और अमरीका भी इनकी चपेट में आ गए थे। ऐसा माना जाता है कि इन महामारियों की शुरुआत भारत से हुई थी।

भारत के व्यापारिक रिश्ते कई देशों से थे। बीमारियों की वजह से इनमें कई देशों ने भारत से आए जहाजों पर स्वास्थ्य संबंधी निरोधात्मक प्रतिबंध लगा दिये थे। इन प्रतिबंधों के कारण ब्रिटिश शासकों को काफी समय व धन का नुकसान उठाना पड़ता था क्योंकि कई बार उनके जहाज विदेशी बन्दरगाहों पर लम्बे समय के लिए पड़े रहते थे। इसलिए सार्वजनिक स्वास्थ्य संगठनों ने अपना पूरा ध्यान इन बीमारियों की रोकथाम पर लगाया। यह उल्लेखनीय है कि उस समय भारत में कुल मौतों में से मात्र 4 प्रतिशत ही इन बीमारियों की वजह से होती थी।

संक्षेप में, व्यापारियों ने मुख्यतः अपने आर्थिक हितों की

खातिर आधुनिक चिकित्सा प्रणाली को बढ़ावा दिया। उनकी दिलचस्पी यह थी कि किसी भी तरह बीमारियों पर नियंत्रण किया जाए और अस्वस्थता की अवधि कम हो जाए, ताकि मजदूरों की उत्पादन क्षमता बढ़े। आधुनिक चिकित्सा प्रणाली में यह संभावना थी कि बीमारी के विशिष्ट कारकों को पहचानकर उनका इलाज किया जा सके। इसलिए व्यापारी इसके विकास में दिलचस्पी रखते थे। इसके अलावा इस नई प्रणाली में अस्वस्थता के मूल कारणों की बनिस्पत बीमारी के प्रत्यक्ष कारणों पर ज़्यादा जोर दिया था। इससे समाज की शोषण मूलक प्रकृति और इसमें व्यापारियों की भूमिका पर से ध्यान हटाने में मदद मिलती थी। इसलिए व्यापारियों और उद्योगपतियों ने इसका खूब प्रचार-प्रसार किया। आधुनिक चिकित्सा की सुविधाएं देने से दयालुता की छवि भी बन गई और शोषितों का रोष भी कम हुआ।

### आधुनिक चिकित्सा को बढ़ावा देने में व्यापारियों की भूमिका के परिणाम

ऐसा नहीं है कि अस्वस्थता की व्याख्या करने के लिए कीटाणु सिद्धांत ही एकमात्र सिद्धांत था। इस बात के मद्देनज़र देखें तो पता चलता है कि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के विकास में व्यापारियों की भूमिका का कितना महत्व था।

सन् 1848 में भी वैज्ञानिक समझ चुके थे कि स्वास्थ्य और बीमारी का सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों से गहरा संबंध होता है। उसी समय से चिकित्सा जगत का एक तबका चिकित्सा संबंधी सोच में बदलाव के लिए प्रयत्नशील रहा है। इन्हीं प्रयासों के कारण 'सामाजिक चिकित्सा' जैसा शब्द अस्तित्व में आया। इन चिकित्सकों के अनुसार, सामाजिक चिकित्सा का उद्देश्य इंसान के स्वास्थ्य का समाज के संदर्भ में अध्ययन करना है। इसमें विशेष ध्यान उन सामाजिक व आर्थिक शक्तियों पर दिया जाता है जो स्वास्थ्य पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभाव डालती हैं।

परंतु ऐसा सिद्धांत संपन्न व ताकतवर लोगों के हित में नहीं था। यदि यह सिद्धांत प्रचलित हो जाता, तो अस्वस्थता के मूल कारणों, गरीबी व शोषण पर ध्यान केंद्रित हो जाता। बीमारियों की रोकथाम व नियंत्रण के लिए सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन की जरूरत स्पष्ट हो जाती। कीटाणु सिद्धांत में समाज में व्याप्त शोषण व दमन का कोई जिक्र नहीं था। इसमें अस्वस्थता के लिए खुद लोगों को दोषी ठहराया जा सकता था। इसलिए कीटाणु सिद्धांत ज़्यादा स्वीकार्य था। इस सिद्धांत से डॉक्टरों का स्वार्थ भी पूरा होता था। वे भी ऊंचे तबके के थे। जब तक कीटाणु का बोलबाला है, तब तक बीमारी की पूरी प्रक्रिया डॉक्टरों की मुट्ठी में है। डॉक्टर ऐसी दवाइयां दे सकते थे

कि मरीज कुछ समय के लिए ठीक-ठाक हो जाए।

अतः व्यापारियों ने चिकित्सा के उन्हीं क्षेत्रों में ध्यान लगाया जो उनके लिए अनुकूल थे। डॉक्टरों ने भी इन्हीं क्षेत्रों में अनुसंधान किया।

### आज़ाद भारत में

एक बार ब्रिटिश राज खत्म हो जाने के बाद, पश्चिमी देश भारत सरकार की नीतियों में सीधे दखल नहीं दे सकते थे। परंतु अब भी वे भारत से कच्चा माल लेकर, अपना निर्मित माल यहां बेचना चाहते थे। यही वह समय था जब विश्व स्वास्थ्य संगठन, यूनिसेफ, खाद्य व कृषि संगठन आदि जैसे 'विशेषज्ञ' संगठन अस्तित्व में आए। इनमें से अधिकतर संगठन पश्चिमी देशों की वित्तीय सहायता से चलते हैं। ये संगठन नव स्वतंत्र देशों की सरकारों को 'विशेषज्ञ' सलाह देने के बहाने उनकी नीतियों व कार्यक्रमों पर सीधा प्रभाव डालते थे। सलाह हर मसले पर दी जाती थी। इसमें स्वास्थ्य भी शामिल था। इन संगठनों के गठन को पश्चिमी देशों की 'सद्भावना' के रूप में देखा जाता था। उपनिवेश रहे देशों में भी अपने भूतपूर्व शासकों के प्रति रोष था। 'विशेषज्ञ' संगठनों की मदद के बहाने इस रोष को कम करने का वही नुस्खा अपनाया गया। उदाहरणार्थ, विश्व स्वास्थ्य संगठन के दक्षिण-पूर्व एशियाई क्षेत्रीय केन्द्र के गठन के लिए बुलाए गए सम्मेलन में भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री नेहरू ने कहा था :

“दुनिया में राजनैतिक टकराव मुख्यतः डर की वजह से होते हैं। अतः स्वास्थ्य जैसे मामलों, जिनमें टकराव का कोई कारण नहीं है, पर बेहतर अंतर्राष्ट्रीय सहयोग से राजनैतिक व आर्थिक मसले सुलझाने में मदद मिल सकती है।”

ऐसी सद्भावना बनाना बहुत जरूरी है क्योंकि तभी विकसित देश अपने आर्थिक क्रियाकलाप बेरोकटोक चला सकेंगे। भारत जैसे देशों के साथ व्यापारिक संबंध बहुत जरूरी हैं क्योंकि कारखानों के लिए धातुएं, लकड़ी, रबर, आदि संसाधनों की जरूरत पड़ती ही है। फिर इन कारखानों में बने माल के लिए बाज़ार भी चाहिए। यह स्पष्ट हो चुका था कि भारत जैसे देश ऐसा बाज़ार प्रदान कर सकते हैं, बशर्ते कि यहां के लोगों की क्रय शक्ति और राष्ट्रीय आमदनी बढ़ाई जाए।

मजदूरों की उत्पादकता बढ़ाने की दृष्टि से, स्वास्थ्य संबंधी दो अड़चनें पहचानी गईं। पहली यह कि इन देशों में उपनिवेशवादियों की आर्थिक नीतियों के फलस्वरूप बीमारी का प्रकोप ज़्यादा होता है। दूसरी यह कि व्यापक रूप से फैलने वाली अधिकांश बीमारियां संक्रामक थीं। (ऐसे रोग जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक किसी माध्यम के जरिये फैल सकते

हैं।) इसलिए व्यापारिक भागों से बीमारी के प्रसार को रोकने के लिए स्वास्थ्य संबंधी प्रतिबंध क्वारेन्टाइन (संक्रामक रोग के संपर्क में आए व्यक्तियों को निश्चित अवधि तक लोगों के संपर्क में न आने देने का तरीका) जरूरी थे। किन्तु इससे व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता था। इन दोनों कारणों से दक्षिणी देशों और उनके विशेषज्ञ संगठनों ने रोग-नियंत्रण को महत्व देना शुरू किया। यह बात भारत जैसे देशों के भी आर्थिक हित में थी।

तो, संक्रामक रोगों पर नियंत्रण एक प्राथमिकता बन गई। यह दौर “व्यापारिक भागों से बीमारियों के प्रसार को रोकने के प्रतिबंधात्मक तरीकों की बजाय बीमारी से उसके उद्गम पर ही निपटने की दिशा में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग” (वि.स्वा.सं.) का दौर रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत जैसे देशों को अपने संसाधनों का काफी हिस्सा संक्रामक रोगों के नियंत्रण पर खर्च करना पड़ा, क्योंकि इन्हीं देशों में बड़ी संख्या में ऐसे रोग मौजूद थे। यह जानने-समझने का कोई प्रयास नहीं किया गया कि संबंधित देश की सेहत में इस रोग का कोई महत्व भी है या नहीं। मसलन विश्व स्वास्थ्य संगठन की जिद के कारण भारत को चेचक उन्मूलन कार्यक्रम चलाना पड़ा। तथ्य यह है कि कुल मौतों में से चेचक मात्र 0.4 प्रतिशत के लिए जिम्मेदार थी।

बीमारियों की रोकथाम के लिए अपनाए गए तरीके भी काबिले गौर है। मलेरिया को ही लें। हमारे देश में रुग्णता और मृत्यु की एक बड़ी वजह मलेरिया है। मलेरिया एक ऐसी बीमारी मानी जाती है जिससे खेती-बाड़ी, उद्योग और व्यापार का विकास ठप्प पड़ जाता है। इस बीमारी के कारण देश को होने वाले आर्थिक नुकसान की विस्तृत गणनाएं भी की जा चुकी हैं। मलेरिया नियंत्रण कार्यक्रम का प्रभाव 1949 में चलाए गए पहले प्रोजेक्ट से ही नज़र आने लगा था। यह प्रोजेक्ट विश्व स्वास्थ्य संगठन की मदद से चलाया गया था।

इस प्रोजेक्ट के लिए उत्तर प्रदेश (वर्तमान में उत्तराखंड) में टिहरी-गढ़वाल इलाके को चुना गया। मलेरियाग्रस्त होने के कारण यहां ज़्यादा घनी आबादी नहीं थी। मलेरिया नियंत्रण कार्यक्रम के परिणामस्वरूप लोग स्थायी तौर पर रहकर खेती-बाड़ी करने लगे। शीघ्र ही यह इलाका समृद्ध हो गया और ज़मीन की कीमतें बढ़ने लगीं। इस प्रोजेक्ट का लक्ष्य यह दिखाना था कि मलेरिया नियंत्रण के जरिए खेती का विस्तार संभव है। यह बात गौर करने योग्य है कि प्रोजेक्ट का लक्ष्य प्रभावित आबादी में मलेरिया कम करना नहीं था।

मलेरिया नियंत्रण कार्यक्रम जिस ढंग से बनाया गया,

उसमें भारत सरकार और पश्चिमी देशों की सरकार दोनों को फायदा था। कार्यक्रम के तहत मलेरियाग्रस्त इलाकों में दो बार डी.डी.टी. का छिड़काव किया जाना था। एक भारतीय मलेरियाविद् ने इस रणनीति की उपयोगिता बताते हुए कहा था, “टैक्स वसूली को छोड़ दें, तो डी.डी.टी. छिड़काव के अलावा कोई भी (सरकारी) सुविधा हर घर तक साल में दो बार नहीं पहुंचती है।” (एच. कलेवर)

इस रणनीति का महत्व तब समझ में आता है जब हम यह ध्यान रखें कि तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति आइजनहोवर ने सन् 1956 में विश्वव्यापी मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम के लिए धन आवंटित करते हुए कहा था कि “भारत, थाइलैंड और फिलिपाइन्स की वर्तमान सरकारों ने कम्युनिस्ट घुसपैठ के खिलाफ लड़ने के लिए राजनैतिक ताकत जुटाने हेतु मलेरिया कार्यक्रम हाथ में लिया है।” (एच.कलेवर)

मतलब औपनिवेशिक शासन खत्म होने के बाद भी पश्चिमी देशों के व्यापारियों ने अपने आर्थिक हित साधने के लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का इस्तेमाल जारी रखा। इसके लिए उन्होंने अपने देशों की सरकार या अंतर्राष्ट्रीय संगठनों का सहारा लिया। भारत सरकार भी अपने आर्थिक हित साधने की दृष्टि से इन्हीं स्वास्थ्य कार्यक्रमों में दिलचस्पी ले रही थी।

यह सच है कि इन स्वास्थ्य कार्यक्रमों की वजह से कुछ बीमारियों से अस्थायी राहत मिली। परंतु इनसे पूरी आबादी के स्वास्थ्य के हालात सुधारने में कोई मदद नहीं मिली।

इसका कारण यह है कि इन कार्यक्रमों का लक्ष्य बीमारी के मूल कारणों को दूर करने का नहीं था। ये तो सिर्फ बीमारी के तात्कालिक कारकों को नजर में रखकर बनाए गए थे। (इस तरह के कार्यक्रमों की सीमाओं पर इस खण्ड के अध्याय 4 में विस्तार से चर्चा की जाएगी।)

स्वास्थ्य कार्यक्रमों का प्रभाव खेती के फैलाव, उत्पादकता और राष्ट्रीय आय पर भी पड़ा। परंतु भारत सरकार को मिलने वाले लाभ की तुलना में पश्चिमी देशों का मुनाफा कहीं ज़्यादा रहा है। इसके अलावा भारत के अधिकांश लोगों की माली हालत में तो कोई खास बदलाव नहीं आया जबकि इन्हीं लोगों के श्रम से राष्ट्रीय आय और विदेशी सरकारों व उद्योगपतियों के मुनाफे में इजाफा हुआ।

दरअसल ‘विशेषज्ञों’ की सलाह के आधार पर बनी इन नीतियों के फलस्वरूप आबादी के काफी बड़े हिस्से की माली हालत बदतर हो गई, खासकर देहाती इलाकों में। माली हालत में गिरावट के कारण उनके स्वास्थ्य में भी गिरावट आई।

## आगमन विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष का

सन् 1960 और सन् 1970 के मध्य की अवधि में बहुत से गरीब देशों ने अपनी गरीबी दूर करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय विशेषज्ञों के उस विकास 'मॉडल' को स्वीकार कर लिया जिसकी सिफारिश इन विशेषज्ञों ने की थी। आर्थिक विकास के इस नए 'मॉडल' के अनुसार गरीब देशों को पश्चिमी देशों से उनकी महंगी तकनीक खरीदना आवश्यक था। ये गरीब देश उस महंगी तकनीक को खरीद नहीं सकते थे इसलिए उन्हें पश्चिमी देशों से ऋण लेना आवश्यक हो गया ताकि वे उस महंगी तकनीक की कीमत चुका सकें।

जिस प्रकार एक बड़ा ज़मींदार छोटे किसान को उसके संकट के समय इतने ऊंचे ब्याज पर अधिक ऋण देता है जो वह कभी न चुका सके और अन्त में उस गरीब किसान की सारी ज़मीन हड़प लेता है, (खण्ड 1 के छठे अध्याय में बसन्त की कहानी पढ़ें) ठीक यही हालत उन गरीब देशों की हो गई जो पश्चिम से ऋण ले रहे हैं। लगातार कर्ज लेने के कारण सन् 1980 तक गरीब देशों पर केवल ब्याज की ही रकम इतनी अधिक बन गई कि आर्थिक विकास होने के उपरान्त भी उन्हें लाभ नहीं हो रहा था। पश्चिम के बैंको द्वारा दिए गए ऋण की यह राशि इतनी बड़ी थी कि बैंको को भी यह भय सताने लगा था कि यदि गरीब देशों ने यह राशि उन्हें नहीं लौटाई तो उनकी आर्थिक स्थिति भी डांवाडोल हो जाएगी। तब इस विकट समय पर विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष उद्धारक के रूप में सामने प्रकट हुए। इन 'उद्धारकों' अर्थात् बैंकों ने उन गरीब कर्जवान देशों को आपातकालीन ऋण दिये ताकि वे लिए हुए कर्ज का कुछ अंश चुका दें और इन देशों में विकास की गति भी बनी रहे।

पर इन संस्थाओं ने आपातकालीन ऋण देते समय ऋण के साथ कुछ शर्तें भी जोड़ दीं, (इन शर्तों को इन संस्थानों की शब्दावली में 'स्ट्रक्चरल एडजस्टमेंट प्रोग्राम'-या संक्षेप में 'सैप' कहते हैं) इन शर्तों के कारण आपातकालीन ऋण प्राप्त करने वाले देशों को ऐसे व्यापारिक संबंध बनाना अब लाजिमी हो गया है जिनसे बहुराष्ट्रीय व्यापारिक संस्थानों को लाभ पहुंचता हो।

विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष ने ऋण लेने वाले गरीब देशों को यह सलाह भी दी कि वे निजी व्यापार पर जोर दें और 'अनावश्यक' खर्च कम करें। उनकी यह भी राय थी कि गरीब देश, शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे अनुत्पादक कामों में अधिक खर्च करते हैं, जिसे कम करना चाहिए। गरीब देश में तो इन मदों में पहले ही बहुत कम खर्च करते थे, अब यह खर्च और भी कम कर दिया गया, आम जनता के लिए बनाए गए अस्पताल और स्वास्थ्य केंद्र गैर सरकारी संस्थाओं को सौंप दिये गये या निजी संस्थानों को बेच दिये गए। दवाओं की कीमतों

पर जो रोक लगी हुई थी, वह हटा दी गई। इस तरह अब दवाइयां बनाने वाली कंपनियां अपनी दवाइयों की कीमतें स्वयं तय कर चाहे जितना मुनाफा लूट सकती हैं।

विकास की नई नीतियों के लागू हो जाने से गरीब देशों में भारी मशीनों का आयात बढ़ गया, मशीनों के आने से ज़मीन की कमी, बेकारी और भुखमरी, मजदूरी में गिरावट जैसी समस्याएं पैदा हो गईं, गरीबी में इजाफा हुआ, नई नीतियों ने अमीर और गरीब के भेद को कम करने के बदले और बढ़ा कर दिया, इसने असंतोष और अशांति के वातावरण में भी वृद्धि की, अशांति के कारण सरकारों को दमनकारी नीतियां अपनानी पड़ीं, प्रशासन ने भी कड़ाई बरतना प्रारंभ किया।

नई आर्थिक नीतियों का कुप्रभाव लातिन अमरीका तथा अफ्रीका के अनेक देशों में स्पष्ट रूप से नज़र आता है। इन देशों में नई आर्थिक नीतियां सन् 80 के दशक में ही लागू हो गई थीं, इनके कारण वहां बच्चों की मृत्युदर कम होने के बदले बढ़ गई। "पीत ज्वर" जो लगभग समाप्त हो गया था फिर से प्रकट हो गया। जाम्बिया ने सन् 1980-84 की अवधि में अपने यहां नई नीतियां लागू की थीं, यहां नवजात शिशुओं की मृत्यु दर 2 प्रतिशत से 6 प्रतिशत हो गई और एक से चार वर्ष के बच्चों की मृत्यु दर पहले 38 प्रतिशत थी जो अब 62 प्रतिशत हो गई।

जैसे-जैसे विभिन्न शोधों से यह पता चलने लगा कि इन देशों के स्वास्थ्य में गिरावट आती जा रही है, नई नीतियों, विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की कड़ी आलोचना के स्वर उभरने लगे। विश्व बैंक की छवि में गिरावट आई। इसलिए उसने 1993 में एक दस्तावेज प्रकाशित किया जिसमें यह सुझाया कि 'सैप' की नई नीतियां लागू करते समय स्वास्थ्य को कैसे ठीक रखा जा सकता है।

विश्व बैंक तो वास्तव में एक बैंक है, जो पश्चिम के बड़े व्यापारिक संस्थानों के हितों को देखते हुए काम करता है। लेकिन अब वह हमारे सामने एक स्वास्थ्य विशेषज्ञ के रूप में प्रकट हुआ है। उसके नए प्रतिवेदन 'इन्वेस्टिंग इन हैल्थ' अर्थात् 'स्वास्थ्य एक निवेश' के आधार पर तीसरी दुनिया के देश अब अपनी स्वास्थ्य संबंधी योजनाएं बना रहे हैं। ये देश हैं जिन्होंने विश्व बैंक के सुझावों अर्थात् 'सैप' को स्वीकार किया है। भारत भी अब 'सैप' अर्थात् विश्व बैंक द्वारा सुझाई गई नीतियों पर अमल कर रहा है। उसने यह नीतियां सन् 1991 में लागू की थी। आज हमारी स्वास्थ्य संबंधी नीतियों का आधार विश्व बैंक है न कि हम। वह हमें सलाह देता है।

अब यह बात साफ हो गई है कि पश्चिम के तथाकथित विशेषज्ञों की सलाह के बाद भी जनता की आर्थिक तथा

स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं में कोई सुधार नहीं हुआ है। हमने परतंत्रता के दिनों में कठिन संघर्ष करके पश्चिम के साम्राज्यवाद से मुक्ति पाई थी। लगता है वही साम्राज्यवाद फिर लौट आया है, अब हम विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के साम्राज्य के

अंग बन गए हैं, ये संस्थान पश्चिम के व्यापारियों के हित में काम करते हैं और दिखावा करते हैं कि हमारी गरीबी, दुख दर्द और बीमारियों से हमें निजात दिलाने के लिए प्रकट हुए हैं।

साभार : स्वास्थ्य और समाज एक भिन्न स्वर

## तीसरी दुनिया के गिनीपिग

■ सुभाष गाताडे

बाल चिकित्सा अनुसंधान के वैश्वीकरण की परिघटना-जिसे कीमतेँ घटाने और दवाओं के विकास में समय कम करने तथा वैश्विक स्तर पर चिकित्सा अनुसंधान को नूतनता प्रदान करने के नाम पर काफी जोर-शोर से बढ़ावा दिया जा रहा है, किस तरह गरीब एवं तीसरी दुनिया के देशों के बच्चों को नए गिनीपिग (परीक्षण चूहों) में तबदील कर रही है, इसके बारे में पिछले दिनों ड्यूक क्लीनिकल रिसर्च इंस्टीट्यूट के अध्ययन में रोशनी डाली गई है।

अध्ययन में यह बात भी उजागर हुई है कि अमेरिकी दवा कंपनियाँ अपने यहां के कांग्रेस के प्रावधानों का इस्तेमाल कर-जिसके तहत दवा कंपनियों को बच्चों पर दवाओं का असर जानने के लिए पेटेंट में छह महीने का विस्तार दिया जाता है-हर साल लगभग 14 अरब डॉलर का अतिरिक्त मुनाफा बटोर रही हैं।

यह अध्ययन जहां बच्चों के परीक्षण चूहे बनने की नियति को उजागर करता है, वहीं हम देख सकते हैं कि चिकित्सा अनुसंधान का भूमंडलीकरण तीसरी दुनिया की आम जनता पर भी कहर बनकर बरस रहा है। अपने यहां बहुत कम लोग इस हकीकत से वाकिफ होंगे कि हर महीने लगभग 42 लोग इसका शिकार हो रहे हैं। पिछले दिनों लोकसभा में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए स्वास्थ्य मंत्री दिनेश चंद्र द्विवेदी ने यह विस्फोटक तथ्य उजागर किया कि यहां ड्रग ट्रायल के दौरान विगत तीन वर्षों में 1,599 लोगों की मृत्यु हुई है।

आम हिंदुस्तानी का बड़ी-बड़ी कंपनियों की दवाओं के लिए गिनीपिग बनने का सिलसिला कोई नया नहीं है। वर्ष 1997 में देश के प्रमुख कैंसर संस्थान 'इंस्टीट्यूट फॉर साइटॉलॉजी एंड प्रिवेंटिव एनकॉलोजी' के तहत चला एक अध्ययन विवाद का विषय बना, जब पता चला कि सर्वाइकल डिसप्लेसिया से पीड़ित 1,100 स्त्रियों का इलाज केवल इसलिए नहीं किया गया था, ताकि बीमारी किस तरह बढ़ती है, उसका अध्ययन किया जाए। जब उन स्त्रियों में सर्वाइकल कैंसर की आशंका महसूस की गई, तब भी उन पर परीक्षण जारी रहा! ज्यादा विचलित करने वाली बात यह थी कि यह समूचा अध्ययन देश के एक अग्रणी चिकित्सकीय खोज संस्थान के बैनर तले संचालित हो रहा था, जिस पर चिकित्सकीय शोध की नैतिक मार्गदर्शिका बनाने की प्रमुख जिम्मेदारी थी।

यह आउटसोर्सिंग का जमाना है। जाहिर है, बड़ी-बड़ी बहुदेशीय दवा कंपनियों द्वारा अपनी नई दवाओं के परीक्षण का बोझ तीसरी दुनिया की जनता पर छोड़ने के मामले में कुछ भी अनोखा नहीं है। मुंबई में पिछले साल आयोजित प्रथम इंडिया फार्मा समिट में यह बात भी स्पष्ट हुई थी कि स्वास्थ्य प्रणाली की खामियों के चलते ऐसे आयोजनों में वॉलंटियर बने लोगों की सुरक्षा का मसला अकसर उपेक्षित ही रह जाता है। अकारण नहीं है कि ऐसे लोगों की सहज उपलब्धता का कारण गैर-जानकारी या उनकी गरीबी है। इस कारण वे ऐसी नई दवाओं का प्रयोग करने के लिए तैयार रहते हैं। तीसरी दुनिया के देशों की लचर स्वास्थ्य प्रणाली और भ्रष्टाचार के चलते आउटसोर्स किए गए चिकित्सकीय परीक्षणों का बाजार आज 12,000 करोड़ रुपये से अधिक का हो चुका है।

मुंबई में आयोजित उस सम्मेलन में फिक्की की तरफ से एक रिपोर्ट भी पेश की गई, जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि राष्ट्रीय हितों की रक्षा के लिए उपयोगी प्रणाली विकसित करने की आवश्यकता है। रिपोर्ट के मुताबिक, राष्ट्रीय हित का मतलब है ऐसी दवाइयाँ, जो भारतीय आबादी के हिसाब से अधिक प्रासंगिक हों तथा अन्य मुल्कों में इस किस्म की वरीयता न हो। रिपोर्ट में यह भी कहा गया है कि परीक्षणों के लिए भारत की परिस्थिति के मुताबिक ऐसे पैमाने भी तय किए जा सकते हैं कि कौन-सी जांच यहां संभव नहीं होगी। इस फेहरिस्त में अन्य मुल्कों में प्रतिबंधित दवाएं भी शामिल की जा सकती हैं।

गरीब मरीजों पर दवा परीक्षणों का काम कितना खुलकर होता है, इसका खुलासा भी पिछले दिनों इंदौर के एक चर्चित अस्पताल में हुआ। मरीजों और शहर के जागरूक वर्ग द्वारा जब इस संबंध में आवाज बुलंद की गई, तब ड्रग ट्रायल के आरोपों से घिरे डॉक्टरों ने शहर के एक बड़े होटल में एक विचार गोष्ठी का आयोजन किया, जिसका मकसद कथित तौर पर लोगों को बताना था कि ड्रग ट्रायल आखिर होता क्या है? पर गरीब मरीजों पर ही क्यों ट्रायल किए जाते हैं, इस सवाल पर उन्होंने चुप्पी साध ली।

## कुछ यादें भूली-बिसरी

■ उत्पला शुक्ला

बँटवारे की इस अभूतपूर्व त्रासदी ने लोगों की जिंदगी की चूलों को कैसे हिला दिया उसका एक खाना है यह बातचीत।

यह बातचीत सुश्री रोमा चटर्जी से शिवकुटी, इलाहाबाद स्थित उनके घर पर हुई। बातचीत के दौरान रोमा जी बहुत पीछे छूट आई यादों को जीती रहीं और बात से बात के तार जुड़ते रहे। इसलिए यह संस्मरण एक ही साथ कई स्तरों को छूता है।

1933 में जन्मी रोमा जी ने 1947 में लाहौर में हाईस्कूल की परीक्षा दी और उसके तुरंत बाद उन्हें लाहौर छोड़ देना पड़ा। ये शहर उनके लिए पराया हो चुका था। इस शहर को अपनाया था उनके दादा ने, 20वीं सदी के शुरुआती सालों में। वे वहाँ वकालत करने गए थे।

तो ये बातचीत एक कोशिश है 50 साल से भी ज्यादा पीछे छूट गए रास्तों की एक बार फिर शिनाख्त करने की। एक 14 साल की किशोरी की यादों में दर्ज लाहौर आज़ादी की लड़ाई बँटवारा और उसके संत्रास। इसमें कुछ बातें आधी-अधूरी लग सकती हैं, कुछ जानकारियाँ या तथ्य अपूर्ण पर यादों की एक सीमा होती है। 60-65 साल पुरानी गलियों से गुज़रना, उसके नक्श पहचानना आसान नहीं।

इस बातचीत में मेरे सवाल बहुत कम थे। रोमा जी अपनी रौ में बोल रही थीं और सवाल उसे भंग ही करते। उन्होंने जैसा बताया मैंने कोशिश की उसे उसी क्रम में, उन्हीं शब्दों में उतार दूँ। बेहद मामूली सी फेरबदल के साथ प्रस्तुत है यह बातचीत :

47 में मैं 14 साल की थी तो 14 साल की उम्र तक मैं वहाँ रहीं। मेरे पिता वहाँ वकील थे। अनारकली स्ट्रीट पर मेरा घर था। बरामदे में खड़े रहो तो घंटों बीत जाते थे। वहाँ खड़े-खड़े मैं लोगों की बातें सुनती रहती थी तो पंजाबी बहुत अच्छे से समझने लगी पर चूँकि धर्मनिष्ठता नहीं थी इसलिए बोलने में सक्षम नहीं हो पाई। हमारे साथ ये हुआ कि वहाँ एक छोटा सा स्कूल था म्युनिसिपैलिटी बंगाली स्कूल। साथ में पढ़ने वाले बच्चे सभी बंगाली थे और पठन-पाठन का माध्यम भी वही। स्कूल दरअसल घर के रहन-सहन का डूप्तीकेशन (प्रतिरूप) था।

स्कूल में तो पंजाबियों से मिलने का कोई मौका नहीं था। घर के आस-पास सहेलियाँ थीं, ज़्यादातर यू.पी. की इसलिए मेरी हिंदी बहुत अच्छी हो गई। अपने-आप हिंदी बोलना-लिखना सीख गई।

एक परिवार था बहुत बड़े लोग थे। उनकी सोडा वाटर की फैक्ट्री थी। मुझे याद नहीं वे किस गांव के थे, यू.पी. के किसी गांव का माहौल था। उनकी फैक्ट्री से होकर ही घर में जाने का रास्ता था। उनके यहाँ भैंसे थीं। घर में रेडियोग्राम भी था जहाँ मैं खूब गाने सुनती थी। उन दिनों काननबाला का एक गीत मुझे पसंद था मैं बार-बार वो रिकॉर्ड सुनती थी वहाँ।

मेरे वकील पिता अम्सरहाँ केस के सिलसिले में पंजाब के दूसरे हिस्सों फीरोजपुर, सियालकोट, मुल्तान जाते रहते थे। हम बहुत आग्रह के साथ वहाँ की बातें सुनते, मसलन सवेरे खाने

के लिए क्या दिया जाता था-गरम-गरम परांठे और ताज़ा मक्खन और ग्लास भरकर लस्सी।

वहाँ के त्यौहारों की याद है, हिस्सा तो नहीं लेती थी-जो ज़्यादा समझ में आता था तो लोहड़ी का त्यौहार। लड़कियाँ दुकानों से चंदा मांगती थीं गाना गाते हुए फिर शाम को आग जलाते थे, गाना गाते थे।

बैसाखी का मेला उस दिन इतनी भीड़ होती थी कि हम लोग बाहर नहीं निकल पाते थे। मेला कहां होता था, मुझे पता नहीं पर आस-पास के गाँवों से भी लोग लाहौर आते थे और अनारकली स्ट्रीट से खरीददारी करते थे।

मेरे वकील पिता के बहुत सारे दोस्त मुसलमान थे। घरों में आना-जाना था। हिंदू-मुसलमान अलग हैं, बचपन में कभी दिमाग में नहीं आया। जिसको कहते हैं गंगा-जमुनी तहजीब वो साकार रूप से वहाँ थी।

आँखों के सामने जो चित्र आते हैं-वो बसंत होता था। हमारा तिमंजिला मकान था, बहुत बड़ी छत थी। अहाते के एक हिस्से में हम रहते थे-बहुत बड़ा होता था। कुछ लोग हमारी छत पर भी आ जाते थे। हर तरफ पतंग ही पतंग-असंख्य पतंग, लाखों में पतंग। हम भी पतंग उड़ाते थे, हमारे तो कोई भाई नहीं था। वैसे पुरुष ही पतंग उड़ाते दिखते थे।

सबसे ज़्यादा जो याद है वो आखिरी साल- आई.एन.ए. फौज और नेताजी। ये शायद 1943 की घटना है। मैंने ऐसी

भीड़ कभी नहीं देखी थी। ये नारा लगता था-‘लाल किल्ले से आई आवाज़, दिल्ली सहगल, शहनवाज़।’ मैं अपने पिताजी के साथ अनारकली निकली थी और जब घर लौटी तो कदम रखने की जरूरत नहीं थी मैं लोगों के कंधों पर चल रही थी। घर से मैंने जब देखा तो जैसे काला समुद्र।

आई.एन.ए. के बाद युद्ध की बात ने लोगों को जोश से भर दिया-‘हम भी कम नहीं’ गाँधी ने स्वतंत्रता दिलाई, ये बात बिल्कुल सही नहीं। नौसेना विद्रोह और आई.एन.ए. फौज ने अंग्रेजों को डराया और तब उन्होंने सोचा कि कोई भी बड़ी पराजय होने से पहले सत्ता सौंप दें। इन सब चीजों ने अंग्रेजों को हिलाया था। गाँधी का कोई खौफ नहीं था।

लाहौर में आई.एन.ए. फौज की चर्चा रोज़ सुनते थे। जब दिल्ली, शहनवाज़ और सहगल रिहा हुए...(नेहरू ने कितने सालों बाद काला कोट पहना उनके मुकदमे के लिए।) नेहरू और भूलाभाई देसाई ने उनका मुकदमा लड़ा। जब वो लोग रिहा हुए तो चारों तरफ़ खुशी का उद्गार था और जयहिंद कहने का फैशन।

पूरी अनारकली-मेरे घर से मज़ार तक एक ही लंबा रास्ता, दोनों तरफ़ जगमगाती दुकानें और बीच-बीच में पोल लगाकर नेताजी के चित्र। 42 के आंदोलन का लाहौर में बिल्कुल असर नहीं था। वहाँ उसकी लहर नहीं पहुँची। 45 तक विश्वयुद्ध का असर था तो अंग्रेज सैनिक अनारकली स्ट्रीट में बहुत दिखते थे।

एक और तस्वीर जो आँखों के सामने उभरती है-वह है रायबहादुर सोहनलाल स्कूल की वह बहुत बड़ा ट्रेनिंग कॉलेज था, उसके साथ वो स्कूल था। मैंने बंगाली स्कूल में छठी तक पढ़ाई की और फिर इस बड़े स्कूल में आ गई। अब मेरे आस-पास सिर्फ़ बंगाली ग्रुप नहीं था। मेरे आस-पास पंजाबी भी थे और अन्य लोग भी।

उस समय कई जर्नल्स निकलते थे। किसी ने एक जर्नल (मुझे नाम नहीं याद है।) ला के दिया। उसमें लिखा था-‘शाबाश पंजाब’ क्योंकि देश में सभी जगह दंगे हो रहे थे, पर पंजाब में नहीं। हम लोग सब बड़े खुश थे। हमारे इम्तिहान शुरू होने वाले थे, शायद 8 मार्च से। दंगे शुरू हो गए, 4 मार्च से ये मुझे ठीक से याद है। इसके भी पहले की एक घटना याद आ रही है, मैं अपने स्कूल से लौट रही थी (हम पैदल ही आते-जाते थे) (लियाक़त अली और जिन्ना के समर्थकों की भीड़ निकलती थी, मुसलमान ही होते थे सब। और ये लोग कहते थे-ला-इलाही-हम लोग घर से देखते थे ये रोज़ का कार्यक्रम था। किसी वजह से लोग लियाक़त से नाराज़ थे, क्यों ये पता नहीं। तब पॉलीटेक्स की समझ नहीं थी। लोग ये नारा लगाने लगे

थे-‘ताजी खबर आई है लियाक़त साडी लुगाई है।) तो देखा पीछे से दौड़ती हुई भीड़ आ रही थी। मुझे बहुत डर लगा और मैं भागी, पीछे बिना मुड़े। माँ ने पूछा-‘क्या हुआ’ उसके कुछ ही दिनों बाद सिक्खों का एक छोटा जत्था खुली तलवार लेकर निकला-‘नहीं बनेगा पाकिस्तान, अखंड रहेगा हिंदुस्तान’ तो उसी दिन हमारे घर में आशंका हुई कि अब दंगा छिड़ेगा। क्योंकि मुसलमानों का जुलूस निकल रहा था, रोज़-रोज़ और अब सिक्ख भी निकल पड़े हैं। ठीक यही हुआ।

4 मार्च को हम लोग बरामदे में खड़े थे, देखा कि एक आदमी (जिसे गोली लगी थी) को चारपाई में लादकर लोग अस्पताल की ओर दौड़ रहे हैं। ये दृश्य बहुत स्पष्ट है मेरी यादों में। हमारे पिताजी तब तक घर नहीं पहुँचे थे, हम लोग बहुत चिंतित थे। हमारे जान-पहचान के दो लोगों की मौत हुई उस दिन।

इम्तिहान तो टल गया। चारों तरफ़ उथल-पुथल मच गयी। उसके बाद ये 14 की रात की बात है या 13 की...। ये 13 की रात की बात है- आग बहुत लगती थी वहाँ पर। आग का गोला एक-दूसरे के मकानों की छत पर फैंकते थे। हम लोग दूर से देखते थे आग का गोला यहाँ से वहाँ जा रहा है, वहाँ से यहाँ। चारों तरफ़ धुँआ, आग। हमारे भी घर के चारों तरफ़ आग लग गई। हम रात भर छत पर बैठे रहे- हम दोनों बहनें और मेरे माता-पिता। हवा का रुख दूसरी तरफ़ था इसलिये आग से हमारा घर बच गया। हम लोगों ने कलकत्ता नेशनल बैंक के लोगों को फोन किया (क्योंकि पिताजी वहाँ के वकील थे) हम लोग यहाँ फंस गए हैं, क्या आप लोग कुछ कर सकते हैं। थोड़ी देर बाद उनका फोन आया कि हम लोगों ने गाड़ी लेकर आने की कोशिश की पर अनारकली के चारों तरफ़ मार्शल लॉ है। आग में हम एक-दूसरे की शक्तें देख पा रहे थे, जैसे दिन की रौशनी। रात तो किसी तरह कट गई बैठे-बैठे। अगले दिन ये मान लिया कि अब बचेंगे नहीं, फंस गए हैं। घर में जो कुछ भी था माँ ने किसी तरह बनाया, हम लोग खा कर सो गए। मन में ये था कि मरना तो है ही। किसी ने आवाज़ दी-‘राय साहब’ देखा तो मिलिट्री की गाड़ी थी। सैनिक अधिकारी ने कहा आप लोग जैसे जिस तरह भी हैं, निकल आइये। हमारी अम्मा ने उसी बीच में थोड़े-बहुत पैसे-गहने अपनी टेंट में खोंस लिये और हम उसी तरह खुले बाल, नंगे पांव बाहर आ गए। जब आदमी को प्राणों का भय होता है तो ये सब चीजें पीछे छूट जाती हैं।

वो कैप्टन थे शायद। कैप्टन मिश्रा जो हम लोगों को ले गए। वे हमें पुरानी अनारकली के इलाके में ले गए जहाँ हमारे जैसे ही और लोग भी थे जिन्हें उन्होंने बचाया था। वहाँ सब

लोग मिल-जुलकर खाना बनाते खाते थे। 2-3 दिन बाद रात के 12 बजे वे एक बड़ी गाड़ी और जीप लेकर आए। जहाँ हम लोग थे उसके सामने एक जैन मंदिर था (वो कैप्टेन पेट्रोलिंग ड्यूटी पर रहते थे उनको सब पता चलता था। उस समय तक आर्मी का बंटवारा नहीं हुआ था शायद) और उन्हें पता चला कि उस जैन मंदिर पर हमला होने वाला है। वहाँ रहने वालों में केवल हम तीन औरतें थीं, मेरी उम्र 14 की, दीदी 24 की और माँ 48 की। तो कैप्टेन ने कहा-अभी चलना है। सारा सामान और सारे पुरुष ट्रक में चढ़े। कैप्टेन मिश्रा खुद ड्राइव कर रहे थे और उन्होंने हम तीनों को बीच में बिठा लिया। चारों तरफ सैनिक थे बंदूक लिए। इस तरह उन्होंने हमें मॉडल टाउन में चम्बा हाउस तक पहुँचाया। चम्बा स्टेट के लोग अपना मकान छोड़ हिंदुस्तान भाग गए थे। नीचे बैंक ऑफ बड़ौदा था। वहाँ के मैनेजर पिताजी के दोस्त थे। उन्होंने खबर दी थी कि अगर कोई जरूरत हो तो यहाँ रह सकते हैं, ये जगह खाली है। हम लोग वहीं रहे, एक-दो दिन नहीं पूरा एक महीना और उसी दौरान मैंने इम्तिहान भी दिया। अनारकली में हमारे घर के नीचे पंजाब कमर्शियल बैंक था। वहाँ का एक चपरासी भी एक दिन चम्बा हाउस पहुँचा कि हम भी वहाँ नहीं रहेंगे। सब लोग पाकिस्तान का बैज लगाते थे तो वो भी बैज लगाकर साइकिल से मॉडल टाउन जाकर काफी सामान ले आया, पुरानी तस्वीरें, बर्तन वगैरह सब लेकर आता था। बैंक से भी बहुत सा सामान जो बंडल आता था-कंबल, खेस वगैरह सब लेकर आया। कोई लेने वाला भी नहीं था, सब लूट लेते। पंजाब यूनिवर्सिटी ने परीक्षा घोषित कर दी। कैप्टेन मिश्रा ही हमको छोड़ने जाते थे और फिर 3 घंटे बाद लाते थे, मेरे साथ पिताजी भी जाते थे और वहीं हॉल के बाहर बैठे रहते थे। सब लोग उनसे पूछते थे कि आपने अपनी फैमिली को भारत क्यों नहीं भेज दिया तो वे कहते थे-‘मेरे इतने सारे दोस्त हैं, मुसलमान दोस्त। मुझे कभी कल्पना भी नहीं होती कि मुझे ये देश छोड़कर जाना पड़ेगा। क्या हम लोग इतने खराब हैं? इस दौरान हमें दो दुखद खबरें मिलीं-लाहौर में एक कालीबाड़ी और एक शीतला मंदिर था। वहीं दुर्गा पूजा होती थी लाहौर की इकलौती-वहाँ बंगाली पुरोहित थे। वे लाहौर छोड़ने को तैयार नहीं हुए। उन्हें मार दिया गया। दीदी के एक प्रोफेसर थे सनातन धर्म कॉलेज में प्रो. बृजनारायण। (दीदी ने 45 में एम. ए. किया था) वो भी वहाँ से हटने को तैयार नहीं थे उनको भी मार डाला। दीदी बहुत विचलित हुईं।

वहाँ से हम लोग सितम्बर के आखिर में हिन्दुस्तान आ गए। तब तक पिताजी को भी समझ में आ गया था कि यहाँ रहना अब संभव नहीं। उनकी आशा बिल्कुल खतम हो गई।

पिताजी आखिरी दम तक कहते रहे-यहाँ से हमें क्यों जाना पड़ेगा? जब उनके दोस्तों ने भी कह दिया-‘रायसाहब, हम लोग आपको ज़्यादा भरोसा नहीं दे सकते। आपका यहाँ से जाना ही ठीक होगा। तब वे वहाँ से हटे।

इस बीच मिश्रा जी का तबादला हो गया पर उन्होंने अपनी ज़िम्मेदारी किसी और को सौंप दी। हम मिलिट्री के एक बड़े ट्रक पर अमृतसर के लिए चल दिए। अमृतसर आते समय हमने दृश्य देखा-लोगों का काफिला, इधर से उधर जाते हुए, उधर से इधर आते हुए। ऐसे ही ट्रक पर लोग हम उन्हें घूरते थे, वो हमें घूरते थे-कहीं बंदूक तो नहीं, इतना अविश्वास कितने सारे लोग, साथ में गाय, बकरी गोद में बच्चा। खैर! हम लोग निर्विघ्न पहुँच गए।

अमृतसर पहुँचकर-कौन सा भाव बताएँ-स्टेशन के चारों तरफ ग़रीब लोग फैले हैं, कॉलरा का प्रकोप है लोग अपने ही मल-मूत्र, उल्टी में सने पड़े हैं। किसी तरह हम लोग स्टेशन के अंदर पहुँचे। लाहौर से अमृतसर सिर्फ 35 कि.मी. है पर वहाँ पहुँचने में सुबह से शाम हो गई। जगह-जगह चैकिंग, गाड़ी तेज नहीं चल सकती थी। स्टेशन पर मुश्किल से रिफ्रेशमेंट रूप का पता चला पर वहाँ खाएँ तो क्या खाएँ! वहाँ भी ज़्यादा कुछ नहीं चाय मिली और टोस्ट।

अब दिल्ली पहुँचने का सवाल था। हमारे साथ एक परिवार था जिनके परिचित दिल्ली में थे। स्टेशन पर न कोई बुकिंग ऑफिस, न क्लर्क। कुछ पता नहीं कौन सी गाड़ी किधर जाएगी। गाड़ियों में इतनी भीड़। एक छोटा लड़का आया, उसको 20/- दिये गए। (उस समय 20/- बहुत होते थे) उसने हमारे लिए लगेज बैन खोल दिया उसमें कोई खिड़की तो होती नहीं नतीजा दरवाज़ा खोलकर बैठना पड़ा और लोग भर गए फिर लड़ाई-झगड़ा। खैर सफर शुरू हुआ। चलते-चलते एक स्टेशन आया, जहाँ तक मुझे याद है-राजापुरा स्टेशन था। तो हम लोगों के साथ एक सरकार फैमिली थी जिसमें पाँच भाई थे। (हमारा पहले से परिचय था) सबसे बड़े वाले भाई अपने किसी साथी से आदर्शवादी बात कर रहे थे-राजापुरा ट्रेन पहुंची, उनको झटके से उतार लिया सिक्ख लोगों ने, उनको घेर लिया, मारने को तैयार, कपड़े उतारकर देखना चाह रहे थे। इस बीच हम लोगों ने बिंदी लगा ली थी, माँ तो बिंदी लगाती ही थी। मेरी माँ ने कहा-‘अरे मेरा बेटा है।’ हम लोगों ने कहा-‘भाई है।’ बड़ी मुश्किल से छुड़ाया, उनका चेहरा एकदम सफेद हो गया था। किसी तरह हम लोग दिल्ली पहुँचे। वहाँ थोड़ा समय बिताया, खाना खाया, खाकर इलाहाबाद की ट्रेन का पता लगाया। इलाहाबाद पहुँचे।

फिर इलाहाबाद का जीवन शुरू हुआ। इलाहाबाद मेरा



ननिहाल था। मैंने वहाँ इम्तिहान तो दिया था पर रिज़ल्ट नहीं निकला। पिताजी ने अपने पुराने दोस्त को लिखा कि अगर आप पता करके बता दें (मुझे नहीं पता कि उन्होंने कॉन्टेक्ट कैसे किया) पर यूनिवर्सिटी से पेपर आया कि बंडल खो गए।

मैं अपने दोस्तों से कहती थी, मैं एम.ए. पास हूँ पर हाईस्कूल नहीं। हमारा पुश्तैनी घर चौबीस परगना जिले में बारासात शहर के पास गाँव में था। मेरे दादा वकील बनकर लाहौर गए। हमारे पिता बहुत सफल वकील नहीं बने पर मेरे दादा बहुत सफल वकील थे। (बंगाली वकील और डॉक्टर सब जगह फैले। यहाँ इलाहाबाद भी 47 में जितने डॉक्टर थे ज़्यादातर बंगाली थे) मेरे पिता ने 1913 में लाहौर से ही हाईस्कूल पास किया। दादा और पहले से वहाँ थे। मैं 1933 में पैदा हुई। हमारे पिताजी बहुत अच्छी उर्दू जानते थे-लिखना, पढ़ना भी-क्योंकि वो अदालत की भाषा थी। वहाँ सभी पुरुष उर्दू जानते थे और महिलाएँ हिंदी। महिलाएँ उर्दू नहीं जानती थीं और पुरुष हिंदी नहीं।

वहाँ लाहौर में बंगाली आबादी मिश्रित थी मतलब अलग से कोई बंगाली मोहल्ला नहीं था। हाँ एक स्कूल जरूर था (बड़े आश्चर्य की बात है कक्षा 6 में सिर्फ 9 बच्चे थे। पंजाबी सिंघी भी बहुत थे। उस मुहल्ले में सिर्फ एक बंगाली परिवार था। मुसलमान भी थे हमारे सामने ही रहते थे। कोने में एक कुलचा-हलवा वाला रहता था।)

उसकी मुझे खूब याद है-देशी घी का हलवा और कुलचा (कुलचा शायद अफगानी शब्द है) खाने में बहुत अच्छा था। घर के ही दायीं तरफ मिठाई और कचौड़ी की दुकान थी। एक दुकान और थी भगवान सिंह की दूध की दुकान। हमारे घर में कोई आता तो या तो कचौड़ी ले आते थे या लस्सी मंगवा लेते थे। हमारे घर की सबसे बड़ी बात थी-पढ़ाई पर बहुत ध्यान दिया जाता था। हमारे दोनों ही अभिभावक बहुत शिक्षित थे। हमारी माँ कभी स्कूल नहीं गईं पर बहुत पढ़ती थीं। परिवार में लड़के-लड़कियों में कोई फर्क नहीं था। मेरी माँ मेरे लिए आदर्श हैं। 14 साल की उम्र में उनकी शादी हो गई थी। उन्हें गवर्नेस रख कर पाला, पियानो बजाना सीखा, लेस की बुनाई, ऊन की बुनाई सीखी। मैंने अपने छुटपन में माँ से इंग्लिश सीखी पर मेरी दादी ने माँ को कभी स्कूल नहीं जाने दिया।

सलिल चौधरी (प्रसिद्ध संगीत निर्देशक) की पत्नी सविता चौधरी मेरी सहपाठी थीं। हम लोग दुर्गा पूजा पंडाल में एक साथ गाते थे। हम लोगों का स्पोर्ट्स डे होता था उसमें ज़्यादातर बंगाली थे। बाद में वहाँ 2-3 दुर्गापूजा होने लगी उसका मतलब बंगाली लोग वहाँ बढ़ गए थे। हमारी कालीबाड़ी हीरामंडी के

इलाके में थी। हम रात में जाते थे तो देखते थे चिक और चिक के अंदर रोशनी में औरतें और चारों तरफ मर्द...इतनी सुंदर औरतें...।

हमारे घर के नीचे ही पंचोली आर्ट पिक्चर थी। मोटरगाड़ी का ज़्यादा चलन नहीं था। कभी-कभी वहाँ बग्घी में बड़ी सुंदर महिलाएँ दिखती थीं। तब नहीं समझ पाती थी, अब पता है कि वे फिल्म अभिनेत्रियाँ थीं। बेहद सुंदर महिलाएँ। सिनेमा शुरू हो गया था। लाहौर में जो फिल्में देखीं-रामराज्य और सिकंदर। सिकंदर में पृथ्वीराज कपूर और वनमाला थे और रामराज्य में प्रेम अदीब और शोभना समर्थ। इन फिल्मों का भी बहुत असर पड़ा। मैं तो गाने की दीवानी थी-‘ज़िंदगी है प्यार की प्यार से निभाए जा, हुस्न के हुजूर में अपना सिर झुकाए जा’ या रामराज्य का गाना-‘बिना मधुर-मधुर कुछ बोल’, ‘भारत की एक सन्नारी की हम कथा सुनाते हैं।’

शनिवार को हमारे स्कूल में कुमारी सभा होती थी। सुधा मल्होत्रा (प्रसिद्ध पार्श्व गायिका) मेरे ही स्कूल में थी मेरी जूनियर। तो काननबाला (पार्श्व गायिका) का गाना बहुत अच्छा गाती थी। हम लोग उसके गाने के दीवाने थे। कुमारी सभा में सुधा का गाना जरूर होता था-‘तू हाँ कर जा या ना कर जा।’ कभी-कभी मेरा मन होता है उससे मिलने का उन दोस्तों से कभी मिलना नहीं हुआ। बार-बार उनकी याद आती रही। मेरी दोस्त थीं सरला-रूपा। पढ़ाई-लिखाई के बारे में बहुत पिछड़े थे। उनकी सोडा वाटर की फ़ैक्ट्री थी बहुत बड़ी-दुकान थी, एक बहुत बड़ा हॉल जहाँ लोग बैठकर सोडा वाटर पीते थे। वहीं से होकर उनके घर जाते थे। बीच में एक गली थी। मैं कैसे जाऊँ अनुमति नहीं थी। तिमंजिले के छत से कूद कर गई, माँ ने खूब पीटा। हम उनके साथ बहुत समय बिताते थे। वे कुछ न कुछ जरूर खिलाते-पिलाते थे। कुछ नहीं तो भैंस का दूध ही पिला दिया। मैं अब भी उस महक को महसूस करती हूँ। हमारे घर में एक जने आए म्यूज़िक टीचर थे। बांग्ला के मशहूर कवि थे रजनीकांत सेना, वे उनके बेटे थे। हमारे पिताजी से कहा-‘इस लड़की को गाना सिखाएंगे।’ उन्होंने एक धुन बजाई, मैंने तुरंत दुहरा दिया। वे मुझे सिखाना चाहते थे पर मेरे माता-पिता तैयार नहीं हुए कि पहले ही गाने की इतनी दीवानी है, पढ़ाई नहीं करेगी। सर्विस के दौरान मुझे इतने कल्चरल प्रोग्राम करवाने पड़ते थे। पहली पोस्टिंग बस्ती में हुई थी। वहाँ बहुत अच्छी टीम थी। प्रिंसिपल भी बहुत रुचि लेती थीं। उन्होंने 7 दिन का वार्षिक उत्सव करवाया। जहाँ-जहाँ भी मेरी पोस्टिंग रही मैं कार्यक्रमों का आयोजन करती थी। बस्ती में ‘नरीर पूजा विसर्जन’ नाटक हुआ फुल लेन्थ। फ़ैज़ाबाद में ‘मार विजय’ नाम का डांस ड्रामा करवाया। अगर मुझे ट्रेनिंग मिली होती तो मेरे लिए आसानी होती।

मेरे पिता के लिए यह बहुत बड़ा सदमा था क्योंकि उन्हें कभी ये भरोसा नहीं था कि देश छोड़ना पड़ेगा। हालांकि पाकिस्तान बनेगा ऐसा वो जानते थे पर उन्होंने ये सोचा था कि पाकिस्तान बनने के बाद भी रहना मुश्किल नहीं होगा।

दीदी महारानी महिला महाविद्यालय, जम्मू में लेक्चरर थीं। पर अब इलाहाबाद में तो जीवन का सवाल सामने खड़ा था, आय का कोई साधन नहीं था। पर दीदी को जल्द ही द्वारका प्रसाद में नौकरी मिल गई और महारानी महिला महाविद्यालय के लोग बहुत अच्छे थे, उन्होंने गर्मी की छुट्टी का पूरा पैसा भेज दिया (उससे हम लोगों को बहुत मदद मिली) दीदी गर्मी की छुट्टी में घर आई हुई थी और शायद इन परिस्थितियों के कारण लौट के नहीं गई थी। जम्मू वालों ने फिर से आने को कहा पर माँ ने जाने नहीं दिया।

मेरे पिता की तरह और भी लोग थे जो वहाँ से भाग आए थे। बार काउंसिल में रजिस्ट्रेशन के लिए पैसा लगना था। सब लोगों ने मिलकर मुकदमा किया कि अविभाजित भारत में पैसा जमा कर चुके हैं, फिर ऐसा क्यों! और वे मुकदमा जीत गए। तब मेरे पिता 60 के लगभग थे। वे ओथ कमिश्नर हुए, गुज़ारे लायक आमदनी थी।

जड़ से उखड़ने का पिता पर गहरा असर पड़ा। वे गहरी निराशा में थे। दो जवान लड़कियों को लेकर ऐसी परिस्थितियों से निकल कर आना और फिर यहाँ रोज़मर्रा की जिंदगी से जूझना हो तो माँ लाहौर की बातें कम करती थी। पिता पैसिव मूड के हो गए। हमने बहुत कुछ मिस नहीं किया क्योंकि कॉलेज में एडमिशन हो गया। पढ़ाई-लिखाई फिर घर का काम इन सबमें व्यस्त हो गए। पर ये जरूर सोचते थे कि हम लोग बच गए। दूसरों के बारे में सुनते थे, पढ़ते थे तो खुद को खुशकिस्मत समझते थे। वे यार्देन फिर से ताज़ा हुई जब गाँधी फिल्म देखी या बुनियाद सीरियल देखा या ट्रेन टू पाकिस्तान देखी। गाँधी फिल्म में जो दृश्य काफिलों के इधर से उधर जाने और उधर से इधर आने का तो सब मेरा देखा हुआ था।

यहाँ तक आते-आते अक्टूबर का महीना हो गया था। ऐसा लगा किसी अच्छे कॉलेज में एडमिशन नहीं मिलेगा। मैंने प्रयाग विश्वविद्यापीठ में दाखिला लिया। बाद में पता चला कि सभी अच्छे कॉलेजों में रिफ्यूजी बच्चों का दाखिला चल रहा था। यहाँ प्रयाग महिला विद्यापीठ में बाकी सब ठीक था पर बहुत से विषय उपलब्ध नहीं थे। महादेवी वर्मा (प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्राचार्य) का नाम ही सुना। कभी देखा नहीं। अपने ऑफिस में ही रहती थीं। नेताओं के ऊपर बहुत ज़्यादा गुस्सा आता है कि उन लोगों ने इतने लोगों की जान के साथ खिलवाड़ किया।

कभी-कभी पं. नेहरू पर भी प्रश्नचिन्ह लगता है कि सब कुछ देशहित में किया या कुछ अपना भी स्वार्थ था।

सभी लोग एक ट्रॉमा से गुज़रे, आर्थिक दृष्टि से भी। रहने का ठिकाना नहीं, खाने का ठिकाना नहीं। जब हम लोग आए तो सब लोगों को ऐसा लगा कि अरे देखभाल करनी होगी। लोग खुश नहीं हुए, उन्हें लगा कि बर्दन है। हम लोगों ने किसी से कोई मदद नहीं मांगी। हमारे चचा ने कुछ पैसा भेजा फिर दीदी का पैसा आ गया और 1 महीने के अंदर ही दीदी की नौकरी लग गई। माँ को शायद भीतर ही भीतर बहुत ट्रॉमा रहा क्योंकि इन सबके बाद माँ बहुत बीमार पड़ी। 48 में दीदी की शादी हुई। 51 में उनके पति की मृत्यु हो गई। यह बहुत बड़ी दुर्घटना थी। लाहौर से भागने की घटना ने मेरी माँ को काफी हिला दिया था। फिर उन्हें जिस स्वागत की अपेक्षा थी घरवालों से वो भी नहीं मिला तो इससे भी उन्हें बहुत धक्का लगा। वो दो-तीन महीने लाहौर में डर के रहना। इन सबने उन्हें कुल मिलाकर बहुत परेशान किया था और वे 7-8 महीने काफी बीमार रहीं। मेरा स्कूल काफी छूटा। 51 में मेरा बी.ए. हो गया। 1955 में मैं बस्ती में इंग्लिश की प्राध्यापिका नियुक्त हुई। वहाँ मैं 5 साल रही फिर 3 साल फैजाबाद। शादी के बाद कुवैत चली गई। लखनऊ ट्रेनिंग कॉलेज में भी मैं 11 साल रही, गाजीपुर में भी। रिटायर इलाहाबाद से हुई।

लोगों के अंदर ये बात थी कि उन्हें किसी तरह सर्वाइव करना है, आगे बढ़ना है। दरभंगा महल (इलाहाबाद) में बहुत से रिफ्यूजी थे। पंजाबी लोगों ने अपना-अपना सर्टिफिकेट दिखाया, उनको सेटलमेंट मिला। पूर्वी बंगाल के भी लोग आए। सब इस स्थिति से उबरने की कोशिश में लगे थे।

लोगों में बहुत कड़वाहट थी मुसलमानों के खिलाफ नाराज़गी थी। लोग जिन्ना से बहुत रुष्ट थे। वो रोष अभी भी है। अविभाजित भारत संभव था। बंग-भंग आंदोलन एक अद्भुत चीज़ थी। लोगों ने खाना नहीं खाया था। सबने मिलकर बंगभंग की मुखालफत की। नतीजा कर्जन को इसे वापस लेना पड़ा। टैगोर का इसमें बहुत बड़ा योगदान है। पूर्वी बंगाल के लोग इससे (बँटवारे) बहुत प्रभावित हुए थे। वे लोग ये चर्चा करते थे कि हम उस समय (बंग-भंग के समय) यह कर पाए, अब क्यों नहीं (मेरी ससुराल और दीदी के ससुराल के लोग सब पूर्वी बंगाल से आए तो वहाँ के लोगों का मनोभाव खूब अच्छे से पता है) मस्जिद के अंदर जाकर मुसलमानों को राखी बांधी। किसी ने उन्हें नहीं रोका। जबकि यहाँ पूरे देश की बात थी और भी ज़्यादा सोलिडैरिटी हो सकती थी। बंग-भंग आंदोलन के नेता, लोग बहुत सिन्सियर थे। अपने स्वार्थ की नहीं सोच रहे थे। शायद ये लोग इतने सिन्सियर नहीं थे और इसी कारण पार्टेशन को रोका नहीं जा सका

# फाँसी के तख्ते से जूलियस फूचिक

चेकोस्लोवाकिया का क्रांतिकारी

जूलियस फूचिक ने यह पुस्तक नात्सी जल्लाद के फन्दे की छाया में लिखी थी। इसकी पांडुलिपि के रूप से ही इसके लेखक के अदम्य साहस और अनोखी सूझबूझ का प्रमाण मिल जाता है। इसकी पांडुलिपि हैं कागज की स्लिपें जिन पर पेंसिल से लिखा हुआ है। बाद में यही स्लिपें एक हमदर्द चेक सन्तरी की मदद से पांक्राट्स, प्राग, के गेस्टापो जेल से एक-एक करके चोरी-चोरी बाहर लायी गयीं। फूचिक, जिसे अपने आप से छल करना कतई मंजूर नहीं था, जानता था कि वह इस खतरों भरी किताब को समाप्त नहीं कर सकेगा। लेकिन तब भी उसका यह विश्वास अपनी जगह पर बिल्कुल टूट था कि उसके अपने देश के लाखों-करोड़ों लोग और दूसरे देशों के फासिस्त-विरोधी जन जल्द ही उसकी इस पुस्तक का उसके ही शब्दों में 'सुखद अंत' लिखेंगे।

...पिछले अंक से जारी

चित्र और रेखाएं-2

### पांक्राट्स

जेलखाने में दो तरह की ज़िन्दगी होती है। आदमी को कोठरी में डाल कर बाहर से ताला भर दिया जाता है, और इस तरह सारी दुनिया से भयानक रूप से अलग कर दिया जाता है लेकिन फिर भी राजनीतिक बंदी तो दुनिया के साथ बहुत गहरे सम्बन्ध-सूत्र से जुड़े रहते हैं। दूसरी, कोठरियों के सामने लंबे गलियारे की ज़िन्दगी है, मन को तकलीफ पहुँचाने वाले अंधेरे-से गलियारों की वर्दीपोश ज़िन्दगी। बावजूद इसके कि इसमें छोटे-मोटे लोग, आकृतियाँ भरी होती हैं यह ज़िन्दगी कोठरियों की ज़िन्दगी से भी कहीं ज़्यादा अकेली होती है। अब मैं उस ज़िन्दगी का जिक्र करना चाहता हूँ।

उस हिस्से का अपना भूगोल और इतिहास होता है। अगर न होता तो मैं उसका अध्ययन न कर सकता। पहले मैं स्टेज के सिर्फ उस सामने वाले हिस्से को जानता था जिसका मुँह हमारी तरफ है, उस प्रत्यक्षतः कठोर, कठिन सतह को जो कोठरी के रहने वालों पर निरंतर अपना बोझ डालती रहती है। साल भर या छः महीने पहले ऐसा ही लगता था। लेकिन अब मैं देखता हूँ कि उस सतह में इतनी बड़ी-बड़ी दरारें हैं कि उनमें से आदमियों के चेहरे झाँकते नज़र आते हैं-वह चेहरे जिन पर तरस आता है, जो कुछ जानना चाहते हैं, या परेशान घबराये हुए चेहरे जिन्हें देखकर हँसी आती है। सब तरह के चेहरे, लेकिन हैं सब आदमियों के। उस धुँधली-धुँधली-सी दुनिया



के हर आदमी को शासन का तनाव एक शिकंजे की तरह दबाता है और इसी से उनकी जो भी मानव भावनाएँ हैं, वे उभरकर सामने आ जाती हैं। अकसर वह चीज़ उनमें कम ही होती है; मगर प्रत्यक्षतः कुछ में ज़्यादा होती है कुछ में कम। उसी चीज़ के कम या ज़्यादा होने से उनमें अपनी-अपनी विशेषताएँ पैदा होती हैं और उनकी अलग-अलग किस्में बन जाती हैं। हाँ यह तो है ही कि कभी-कभी उनमें कुछ पूरे-पूरे आदमी भी मिल जाते हैं। लेकिन दूसरों की मदद करने के लिए उन्हें इस शासन से

पैदा तनाव की जरूरत न थी!

जेल कोई खुशी की जगह नहीं है लेकिन कोठरियों के सामने की दुनिया कोठरियों से भी ज़्यादा अँधेरी होती है। कोठरियों में दोस्ती का वास होता है-और कैसी दोस्ती! वैसी ही जैसी कि लड़ाई के मोर्चे पर बहुत लंबे चलने वाले खतरे के समय पैदा होती है, जब कि आज तुम्हारी ज़िन्दगी मेरे हाथ में हो सकती है और कल मेरी ज़िन्दगी तुम्हारे हाथ में। जो हो, इस हुकूमत के संतरियों में आपस में बहुत ही कम दोस्ती है। हो भी नहीं सकती। उनके चारों तरफ ओछी खुफियागीरी की हवा रहती है, वे सदा एक दूसरे की चुगली खाया करते हैं। और उन्हें उन लोगों से सावधान रहना पड़ता है जिन्हें वे सरकारी तौर पर 'साथी' कह कर पुकारते हैं। उनमें से बेहतरीन लोग जो बिना दोस्ती के जी नहीं सकते, उनको यह चीज़ हमारी कोठरियों में मिलती है।

बहुत दिन तक हम लोग एक दूसरे का नाम न जानते थे। मगर उससे कुछ नहीं बिगड़ता, हम लोगों ने खुद ही उनके नाम रख लिये थे। कुछ नाम हम लोगों ने उन्हें दिये, कुछ नामों का आविष्कार हमारे पूर्वजों ने किया था और कोठरी के संग वे भी हमें उत्तराधिकार में मिले। कुछ के अलग-अलग कोठरियों में अलग-अलग नाम थे-वे ऐसे लोग थे जो न अच्छे थे न बुरे, न इधर थे न उधर, जो एक कोठरी में कायदे से ज़्यादा भी कुछ दे देते लेकिन वे ही दूसरी कोठरी में कैदियों के मुँह पर तमाचा मार देते। कैदियों से यह जो कुछ क्षणों का सम्पर्क होता है, यही कोठरी के रहने वालों के मन पर चिरस्थायी छाप छोड़ जाता है, और इन छापों के ही आधार पर नाम रखे जाते हैं। बहरहाल, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि तमाम कोठरियाँ एक ही लकड़ से किसी को पुकारने लग जाती हैं, और यह होता है उन संतरियों के संग जिनमें अच्छी या बुरी कुछ बड़ी खास अपनी विशेषताएँ होती हैं।

आइए ज़रा इन लोगों को एक नज़र देखें : इन छोटी-छोटी शकलों को! वह यों ही अचानक एक जगह नहीं इकट्ठा हो गये हैं। वे नात्सीवाद की राजनीतिक सेना का एक दस्ता हैं। उन्हें बहुत होशियारी से चुना गया है। वे इस हुकूमत के खंभे हैं, जिन पर उनका समाज टिका है।

#### ‘फर्स्ट-एड-वाला’

वह लम्बा, मोटा-सा एस.एस. का आदमी जिसकी कमजोर-सी पतली-सी जनानी आवाज़ है, उसका नाम रियुस है; वह राइन के किनारे कोलोन के एक स्कूल में चौकीदार था। सभी जर्मन स्कूलों के चौकीदारों की तरह उसने भी फर्स्ट एड सीखा था और अकसर जेल के डाक्टर की जगह पूरी करता था। इस जगह वह पला आदमी था जिससे मेरा संपर्क हुआ। वह मुझको घसीटकर कोठरी में लाया, ओठे पर मुझे लिटाया; मेरे घावों को देखा, सुना और उन पर गीली पट्टियाँ रक्खीं, पहली बार। शायद यह ठीक है कि उसने मेरी जान बचाने में मदद की! वह किस बात की अभिव्यक्ति थी। उसकी मनुष्यता की या उसके फर्स्ट एड के ज्ञान की? मैं ठीक नहीं कह सकता। मगर जब वह गिरफ्तार यहूदियों के दाँत तोड़ देता या उन्हें नमक या बालू के चमचे भर-भर कर देता, (क्योंकि सब बीमारियों का यह एक अकसीर इलाज उनके पास था) तब यह निश्चय ही उसके नात्सीवाद की अभिव्यक्ति होती।

#### ‘स्मार्टी’

यह बातूनी, रहमदिल फेबियन चेस्का बुडेजोविट्ज़े के शराब के कारखाने का एक ड्राइवर था। वह जब हमारा खाना लाता तो खूब मुस्कुराता हुआ कोठरी में दाखिल होता, और कभी हम लोगों को परेशान न करता। आप कभी विश्वास नहीं करेंगे कि वह घंटों हमारी कोठरी के दरवाज़े के बाहर, हमारी बातों पर कान लगाए खड़ा रहता कि कोई छोटी-सी बात भी मिल जाये तो उसे लेकर वह अपने किसी ऊँचे अफसर के पास दौड़ जाए।

#### ‘कोकलार’

वह भी बुडेजोविट्ज़े के शराब के कारखाने का मजदूर था। सूडेटन इलाके के जर्मन मजदूर यहाँ पर बहुत हैं। मार्क्स ने एक बार लिखा था : ‘यह महत्व की बात नहीं है कि एक मजदूर व्यक्ति के नाते क्या सोचता या करता है; महत्व की बात यह है कि अपना ऐतिहासिक कर्तव्य पूरा करने के लिए मजदूर वर्ग को क्या करना चाहिए।’ जिन लोगों को हम यहाँ देखते हैं वे अपने वर्ग के कर्तव्यों के बारे में खाक-बला कुछ भी नहीं जानते। अपने वर्ग से विच्छिन्न और परिस्थितियोंवश उसके विरोध में खड़े, वे सिद्धान्त की दृष्टि से त्रिशंकु के समान अधर में लटकते रहते हैं-आगे चलकर शायद सैद्धान्तिक ही नहीं शारीरिक दृष्टि से भी उनकी यही स्थिति होती है!

आराम से अपनी रोजी कमाने के लिए उसने नात्सियों का साथ किया। मगर जब उसे पता चलता है कि यह तो बहुत टेढ़ा मामला है, इसकी तो उसने कल्पना भी न की थी। तब से वह मुस्कुराना भूल गया है। उसने नात्सियों पर जीत की बाज़ी लगाई थी, मगर अब उसे लगता है कि उसने मुर्दा घोड़े पर बाजी लगायी थी! उसकी हिम्मत टूट गयी है। स्लिपर पहने, खामोशी से जब वह रात के गलियारे में चहलकदमी करता, तो अनजाने में ही लैंप के शेड की धूल पर अपने उदास विचारों के दाग छोड़ देता।

उनमें से एक पर उसने कविता की भाषा में लिखा था, ‘हर चीज़ बदबू करती है’, और आत्महत्या करने की सोची थी।

दिन के वक्त वह संतरियों और कैदियों दोनों को अपनी जल्दबाज़, खर-खरी आवाज़ में इधर-उधर दौड़ाता रहता है- और यह सब खुद अपनी हिम्मत बनाये रखने के लिए।

#### ‘रॉस्टर’

लम्बा और दुबला, भट्टी, खुरदरी, मोटी आवाज़ का रॉस्टर यहाँ के उन गिनती के लोगों में है जो खुलकर हँस सकते हैं। वह जाब्लोनेट्ज़ की एक कपड़े की मिल का मजदूर है। वह हमारी कोठरी में आ जाता है और घण्टों बहस करता है।

‘मैं इसमें कैसे आ फँसा? दस साल तक मेरे पास कोई स्थायी काम न था, और तुम सोच ही सकते हो हफ्ते में चार शिलिंग<sup>२</sup> में पूरे परिवार का खर्च चलाना हो तो ज़िन्दगी का नक्शा क्या होगा। फिर वे लोग आये और उन्होंने कहा: हम तुम्हें काम देंगे, हमारे संग चलो। मैं गया और उन्होंने मुझे काम दिया, मुझे और सबों को; अब हम लोगों की रोटी का तो ठिकाना हो गया, घर बनाकर रह तो सकते हैं, एक बार फिर साँस तो ले सकते हैं। समाजवाद? बेकार चीज़ है। मैंने इसके बारे में पहले कुछ दूसरी ही कल्पना की थी, लेकिन यह जो कुछ है पहले से अच्छा है। नहीं है? लड़ाई? लड़ाई मैं नहीं चाहता था। मैं नहीं चाहता था कि दूसरे लोग मरें, मैं तो सिर्फ खुद जीना चाहता था।

‘क्या? मैं चाहूँ या न चाहूँ लड़ाई में मदद पहुँचा रहा हूँ तो करूँ क्या? यहाँ मैंने किसी को कोई चोट पहुँचायी है? अगर मैं चला

जाऊँगा, तो दूसरे लोग, शायद मुझसे भी गये-बीते, मेरी जगह ले लेंगे। इससे किसी का कुछ फायदा होगा? लड़ाई के बाद मैं फिर अपने कारखाने वापस चला जाऊँगा...'

'तुम्हारा क्या खयाल है कौन जीतेगा? हम लोग नहीं? तुम लोग? तो हम लोगों का क्या होगा?

'खात्मा? यह तो बहुत बुरी बात है। मैंने तो कुछ और ही कल्पना की थी।'

और वह लंबे-लंबे थके हुए कदमों से कोठरी के बाहर चला जाता है।

आधे घंटे में वह फिर सोवियत संघ के बारे में एक सवाल लेकर लौट आता है।

**'बेजान वह'**

एक दिन हम लोग पांक्राट्स के बड़े गलियारे में खड़े उन लोगों का इन्तज़ार कर रहे थे कि आकर हमें पेशी के लिये पेचेक बिल्डिंग ले जायें। हमें रोज़ इस जगह दीवाल से माथा सटा कर खड़े रहना पड़ता था जिसमें हम यह न देख सकें कि हमारे पीछे क्या हो रहा है। उस दिन मैंने एक नयी आवाज़ सुनी:

'मैं कुछ नहीं देखना चाहता! मैं कुछ नहीं सुनना चाहता! तुम मुझको नहीं जानते, लेकिन जल्दी ही जान जाओगे!'

मैं हँसा। इस कवायद में 'गुड सोल्जर श्वाइक' के गरीब बेवकूफ लेफ्टिनेंट डूब का यह उद्धरण बहुत मौके का था। अब तक किसी ने यह हिम्मत नहीं दिखलायी थी कि इस मज़ाक को जोर से कहता। कतार में मेरे बगल में खड़े मेरे ज़्यादा अनुभवी पड़ोसी ने मेरी पसली में उँगली चुभाकर इशारा किया कि हँसो मत, मुमकिन है तुम्हारा ख्याल गलत हो; और यह बात हँसने के लिए न कही गयी हो। और सचमुच वह हँसने के लिए नहीं कही गयी थी!

वह शकल जिसकी आवाज़ हमने अपने पीछे सुनी थी, एस.एस. की वर्दी पहने एक पिटी-सा आदमी था, जिसे स्पष्ट ही श्वाइक के बारे में कुछ नहीं मालूम था। यह शकल लेफ्टिनेंट डूब की तरह बात कर रही थी क्योंकि आध्यात्मिक रूप से वह उससे संबद्ध थी। यह शकल वितान पुकारने पर जवाब देती थी और बहुत दिनों तक नाम को थोड़ा-सा चेकोस्लोवाक रूप देकर चेकोस्लोवाक फौज में सार्जेंट की हैसियत से काम कर चुकी थी। उसने बात ठीक कही थी, धीरे-धीरे हम लोग उसे खूब अच्छी तरह जान गये और हम लोग सदा उसके बारे में उत्तर पुरुष एकवचन का ही प्रयोग करते थे-वह। सच बात तो यह है कि जब हमने मूर्खता, दुष्टता, अहम्मन्यता और सीधे-साधे कमीनेपन के उस अजीब संमिश्रण के लिए, जो कि पांक्राट्स की हुकूम के खास स्तम्भों में से था, कोई उपयुक्त नाम ढूँढना चाहा तो हमारी अकल ने जवाब दे दिया।

जब हम उन ओछे, ज़लील, घमंडी और मौकेबाज़ लोगों के मर्म पर आघात करना चाहते तो कहते, 'वह सूअर के घुटने तक भी नहीं

पहुँचता'-वह हमारा खास फ़िकरा था। उस आदमी का दिमाग कितना छोटा होगा जिसे अपने नाटे कढ़ की वजह से यंत्रणा महसूस होती हो। वितान को यह यंत्रणा महसूस होती थी और वह हर उस आदमी से बदला लेता था जो उससे शारीरिक या मानसिक रूप में बड़ा होता-यानी हर किसी से।

मुक्कों-घूसों से नहीं। इतनी उसमें हिम्मत न थी। जासूसी करके, चुगली खाकर। वितान के मनगढ़न्त के पीछे न जाने कितने कैदियों ने अपनी सेहत से हाथ धोया होगा, न जाने कितनों ने अपनी जान गँवाई होगी-क्योंकि तुम पांक्राट्स से किसी कन्सेन्ट्रेशन कैंप भेजे जाते हो या पांक्राट्स से निकल भी पाते हो, इन सब बातों का दारोमदार इस पर है कि तुम्हारे कार्ड पर क्या लिखा है।

जब वह शान में आकर मुर्गे की तरह गलियारे में अकेले चहलकदमी करता है तो उसे देखकर हँसी आती है। जब कोई उसे नहीं भी देखता होता तब भी वह इसी तरह फूलकर चलता है। जब किसी आदमी से उसकी मुलाकात होती है तो उसे लगता है कि कहाँ कूदकर औरों से ऊपर जा बैठे। जब वह हम लोगों में से किसी से सवाल-जवाब करता है तब भी वह कुर्सी की बाँह पर बैठा रहता है और गोकि उस तरह बैठने में उसे तकलीफ ही होती है तो भी वह उसी तरह घंटे भर तक बैठा रह सकता है क्योंकि उस हालत में उसी ऊँचाई तुमसे मुट्ठी भर ज़्यादा हो जाती है। हमारे दाढ़ी बनाते वक़्त जब वह ड्यूटी पर रहता है, तब वह या तो सीढ़ी पर खड़ा रहता है या बेंच पर ऊपर-नीचे कवायद करता रहता है, और उसकी ज़बान पर उसका मशहूर फ़िकरा: 'मैं कुछ नहीं देखना चाहता, मैं कुछ नहीं सुनना चाहता। तुम मुझे नहीं जानते...।'

सबेरे कसरत के वक़्त वह सहन से अलग घास के एक छोटे से प्लाट पर जा बैठता है, क्योंकि वहाँ पर बैठकर वह सहन के बाकी सब लोगों से चार इंच ऊँचा हो जाता है। वह कोठरी में उसी शानो-शौकत से दाखिल होता है जिससे कि बादशाह दाखिल होता है, लेकिन वह फौरन कुर्सी पर जा खड़ा होता है जिससे मुनासिब ऊँचाई से मुआयना कर सके।

उसे देखकर हँसी तो बहुत आती है लेकिन जब आदमी की ज़िन्दगी का सवाल उठता है तब तो तमाम गधे सरकारी अफसरों की तरह वह खतरनाक भी बहुत है। उसके गधेपन में एक सिफत और छिपी हुई है- उसे तिल का ताड़ बनाना आता है। उसे सिर्फ एक काम आता है, रखवाले कुत्ते का और इसीलिए कायदे-कानून का छोटा-से-छोटा उल्लंघन भी उसकी दृष्टि में बहुत बड़ा हो जाता है, उसकी अहम्मन्यता के बराबर बड़ा। वह जेल के छोटे-से-छोटे नियम और आदेश की अवज्ञा की व्याख्या इस रूप में करता है कि उससे उसकी इस चेतना को खुराक पहुँचे कि वह भी कोई है। और फिर कौन इस बात का पता लगाता है कि उसके लगाये अभियोगों में कितनी सच्चाई है?

...क्रमशः जारी

## जैन तथा बौद्ध धर्म

■ मुक्तिबोध

...पिछले अंक से जारी

ईसा-पूर्व छठी सदी विश्व की असाधारण शताब्दी है। उस काल-खण्ड में सभ्यता के अनेकों केन्द्रों में ऐसे महापुरुष हुए, जिन्होंने अपने देश के धार्मिक, दार्शनिक विश्वासों और विचारों को जबर्दस्त धक्का दिया और उथल-पुथल मचा दी। यूनान में हिरेक्लिटस, ईरान में जरतुष्ट्र, चीन में कन्फ्यूशियस, भारत में वर्धमान महावीर और सिद्धार्थ गौतम बुद्ध ने अपने-अपने काल के समाजों को विचलित कर दिया, उन्हें सोचने के लिए बाध्य कर दिया, और इस प्रकार जन-जागरण उत्पन्न कर उन्होंने पूर्वतर समाज-व्यवस्था में सुधार करते हुए, नयी भावपूर्ण जीवन-दृष्टि प्रदान की। इस जीवन-दृष्टि का प्रभाव देशकालातीत हो गया। यद्यपि धर्म रूप में, बौद्ध मत भारत से लगभग उड़ गया, किन्तु महान् सांस्कृतिक उपलब्धि के रूप में, आज भी वह हमारी विचार-पद्धति और भाव-पद्धति में विराजमान है। उसी प्रकार जैन धर्म यद्यपि अनुयायियों की संख्या की दृष्टि से अल्प है, किन्तु, भारतीय दर्शन तथा कला में उसका योगदान कैसे भुलाया जा सकता है?

**जैन धर्म** : ईसा-पूर्व सातवीं सदी में, जो उपनिषद् काल के नाम से जानी जाती है, ऐसे बहुत-से लोग थे, जो कर्मकाण्ड-प्रधान वैदिक धर्म से संतुष्ट नहीं थे। उपनिषद्-कर्ता ऋषियों ने भी कर्मकाण्ड को महत्व नहीं दिया। किन्तु उन्होंने खुलकर उसका विरोध भी नहीं किया। साथ ही, साधारण जन-समाज में उनके सूक्ष्म चिन्तन के महान् निष्कर्षों का प्रचार भी नहीं था। वे समाज के उच्चतम स्तर पर थे और अपनी इस उच्च स्थिति के फलस्वरूप ही सामान्य जन-समाज से सम्पर्करहित और पृथक् थे।

**ब्राह्मण** : इस विशेष धार्मिक सामाजिक स्थिति में, जबकि जनता अन्ध-विश्वासों में डूबी हुई थी और पुरोहित वर्ग कर्मकाण्ड तथा रूढ़ियों के पालन को ही धर्म समझता था, ऐसे लोग आये, जिन्होंने ब्राह्मण-प्रभुत्व-सम्पन्न व्यवस्था ही को चुनौती दी।

यह चुनौती उन वर्ण-संकर जातियों के कुछ विचारकों से आयी, जिन्हें आर्य-जन अनादर की दृष्टि से देखते थे। इन वर्ण संकर जातियों के प्रति ब्राह्मण का भाव तिरस्कारपूर्ण होने से, वह असंतोष समाज के बहुत-से लोगों में घर कर गया था कि जिस असंतोष को हम 'उग्र विचार' का जनक कह सकते हैं। इन वर्ण-संकर जातियों के प्रति आर्यों का अनादर-भाव होने के कारण ही, ब्राह्मणों की अपनी एक स्वतंत्र परंपरा तथा विचारधारा चुपके-चुपके, हलके-हलके, समाज में फैलती रही।

यह विचार-धारा क्या थी? वैदिक परम्परा तथा यज्ञ-याग, कर्मकाण्ड में कुछ नहीं धरा है। पुरोहित वर्ग, लोभवश, जनता को भुलावे में रखने के लिए, कर्मकाण्ड को महत्व देता है। सामाजिक ऊँच-नीच मानवनिर्मित है। कर्म ही से मनुष्य ऊँचा या नीचा होता है। जाति-व्यवस्था और वर्णाश्रम व्यवस्था निरर्थक है। उसे शिथिल होना चाहिए या टूट जाना चाहिए। धर्म का सच्चा स्वरूप है आत्म-नियंत्रण और सद्भावना, इन्द्रियों का दमन और सदाचार, करुणा तथा शील, प्रेम तथा पर-दुःख-कातरता। धर्म का सच्चा

स्वरूप मनुष्य के नैतिक चरित्र में है, उदात्त व्यक्तित्व में है। बुद्धि की स्वतंत्र क्रिया और मानवता के कल्याण की कामना ही से धर्म का स्वरूप बनता है।

ये विचार आज हमें केवल सुधारवादी प्रतीत होते हैं। किन्तु तत्कालीन पुरोहितवादी धर्म के लिए, ये विचार समाज में उथल-पुथल मचा देने वाले थे, उसके लिए वे क्रांतिकारी थे।

ये विचार उपनिषद्काल ही से, ब्राह्मण-धर्म के बाहर ब्राह्मण-समुदायों में पनप रहे थे। उनका प्रचार वर्णसंकर जातियों में विशेष रूप से था।

उपनिषद् काल के अनन्तर पश्चिम के आर्यों का प्रभाव जाता रहा और पूर्व के (विशेषकर मगध के) वर्णसंकर क्षत्रियों का प्रभाव बढ़ता गया। इन वर्णसंकर क्षत्रियों के राजनीतिक प्रभुत्व के विकास के साथ-ही-साथ ब्राह्मण भी अपना प्रभाव बढ़ाने लगे।

ब्राह्मण लोग त्याग और करुणा को, इन्द्रिय-दमन और आत्म-शुद्धि को, सदाचार और प्रेम को, धर्म का मुख्य लक्षण मानते थे। वे अपने अर्हतों (सन्तों) के मार्ग का अनुसरण करते, तथा उनके चैत्यों (समाधियों) को पूजते! तपस्या, संयम और सदाचार उनके मुख्य सिद्धान्त थे।

उधर आर्य जन अपने को शुद्ध रक्तवान समझकर मगध तथा अन्य पूर्वीय क्षेत्रों के क्षत्रियों को, 'नय-वर्जित', 'शूद्र-प्राय', तथा 'शूद्र' समझते थे। ब्राह्मण स्वयं वर्ण-संकर थे। उन्हें मगध तथा पूर्व के अन्य क्षेत्रों के महत्वकांक्षी राज्यों में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए विशेष प्रयत्न की आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

**पार्श्वनाथ** : ईसा-पूर्व सन 750 के लगभग पार्श्व नामक एक अर्हत् अथवा तीर्थंकर हुए। उन्होंने कहा कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह ही सच्चा धर्म है। उन्होंने, ब्राह्मणों की रीति के अनुसार, जाति-व्यवस्था तथा बाह्य आडम्बर-पूर्ण कर्मकाण्ड का विरोध किया। अर्हतों की परम्परा में, पार्श्व तेईसवें अर्हत् या तीर्थंकर थे। उत्तर बिहार के गणराज्यों में, वृजियों का मुख्य अधिपति सिद्धार्थ था। उसने और उसकी पत्नी त्रिशला ने पार्श्व का उपदेश ग्रहण किया। उस कुल में लगभग ढाई सौ वर्ष बाद वर्धमान महावीर का जन्म हुआ। उनका जन्म-काल 599 ई. पूर्व माना जाता है।

**वर्धमान महावीर** : वर्धमान महावीर ब्राह्मणों की परम्परा में पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। वे जब तीस वर्ष के हुए तो उन्होंने सत्य की खोज में अपना घर छोड़ दिया। उन्होंने प्रब्रज्या (संन्यास) ग्रहण कर ली। बारह वर्ष के कठोर तप के उपरान्त, उन्हें 'कैवल्य' (सत्य-बोध) प्राप्त हुआ। तब से ये अर्हत् (पूज्य), जिन (विजेता, इन्द्रियजित्) और निर्गन्थ (बन्धनहीन) कहलाये। इसके बाद के तीस वर्ष उन्होंने भ्रमण में व्यतीत किये। वे देश-भर में अपने मत का प्रचार करते रहे। उन्होंने मगध के सम्राट् बिम्बिसार और उनके पुत्र अजातशत्रु से कई बार भेंट की। ये राजा उनके प्रति अपार श्रद्धा रखते थे। ई.पू. 527 में पावापुरी में, जो पटना जिले में एक गाँव है, उनका देहान्त हो गया। महावीर जिन कहलाते थे, इसलिए उनके मत का नाम जैन हुआ। अनुयायी भी जैन कहलाये। उनके पूर्व के

तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने धर्म के चार मुख्य तत्व कहे थे। वर्धमान महावीर ने पाँच बताये। वे इस प्रकार हैं-सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय और ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचर्य को महावीर ने जोड़ा।

जैन मत तपस्या-प्रधान मत है। उसमें अहिंसा, प्रेम तथा सदाचार पर ही जोर है। जैन धर्म अनीश्वरवादी मत है, उसमें ईश्वर को कोई स्थान नहीं। वे केवल 'सिद्ध' पुरुष के प्रति श्रद्धा अर्पित करते हैं। सिद्ध वह, जिसने इन्द्रियों को जीत लिया हो और सर्वोच्च आध्यात्मिक दशा प्राप्त कर ली हो।

**धर्म-प्रसार :** वर्धमान महावीर ने अपने जीवन-काल में ही धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए संघ स्थापित किया। उनकी मृत्यु के उपरांत, संघ के नेताओं या प्रमुखों में संभूत विजय और भद्रबाहु जैसे महान् साधु हुए, जिन्होंने इस मत को देश के कोने-कोने में पहुँचाया। ईसा-पूर्व चौथी सदी के अन्त में, भद्रबाहु के नेतृत्व में जैन साधुओं का एक दल, दक्षिण भारत में धर्म-प्रचार के लिए गया। उसने मैसूर के अंतर्गत श्रवणबेलगोला में अपना केन्द्र बनाकर वहाँ से जैन मत का प्रचार किया। भद्रबाहु के नेतृत्व में काम करने वाले जैन साधु तथा मगध के रहने वाले जैन साधु इन दो के बीच में क्रमशः खाई बढ़ती गयी और सिद्धान्त-सम्बन्धी मतभेद होते गये। दक्षिण का जैन मत दिगम्बर सम्प्रदाय कहलाया और मगध का श्वेताम्बर सम्प्रदाय।

जैन मत को राजाश्रय भी खूब मिला। भारत-सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने इसे आश्रय प्रदान किया। मगध के नन्द वंश के कई राजा जैन थे। कलिंग (उड़ीसा) के विख्यात पराक्रमी नरेश खारवेल ने तो जैन धर्म ही स्वीकार कर लिया। दक्षिण में ईसा की पाँचवी सदी से लेकर बारहवीं सदी तक अनेक राजवंशों ने इसे आश्रय दिया, जिनमें चालुक्य, राष्ट्रकूट, गंग और कदम्ब प्रमुख हैं।

ईसा की बारहवीं सदी में गुजरात में जैन धर्म का खूब ही उत्कर्ष हुआ। अनहिलवाड़े के महान् चालुक्य नरेश सिद्धराज जैन थे। उनके पुत्र कुमारपाल जैन धर्म के महान् संरक्षक थे। मुसलमानों के ज़माने में, विशेषकर अकबर के काल में, जैन धर्म राजपूताने में अग्रसर हुआ। किन्तु उसके अनन्तर जैन धर्म का ह्रास होने लगा। आज भारत में जैनियों की संख्या तेरह लाख से कुछ ही अधिक है। वे भी राजस्थान, मालवा, गुजरात, मध्य भारत और दक्षिण के कुछ जिलों में ही अधिकतर पाये जाते हैं।

**जैन धर्म का ह्रास :** एक समय में अत्यन्त प्रभावशाली जैन धर्म क्रमशः ह्रासग्रस्त होने लगा। इसका एक कारण भक्ति-प्रधान पौराणिक धर्म का अभ्युत्थान भी था, जिसने बौद्ध धर्म का भी भारत-भूमि से लोप कर दिया। दूसरे जैन धर्म में भी जाति-व्यवस्था का प्रादुर्भाव हो गया था और राजाश्रय भी लुप्त हो चुका था।

जैनियों के पास विशाल तथा समृद्धिशाली साहित्य है। उनका तर्कशास्त्र प्रचण्ड बुद्धिमत्ता का द्योतक है। उनका दार्शनिक साहित्य विविध और व्यापक है। धार्मिक प्रबन्ध-काव्य, आख्यान तथा पुराण भी उनके पास हैं। उनके बड़े मन्दिरों में ग्रन्थालय होते हैं, जिनमें मूल्यवान प्राचीन पोथियाँ आज भी पायी जाती हैं।

वर्धमान महावीर ने, जन-साधारण के ज्ञान के लिए, अर्ध-मागधी में अपने उपदेश दिये थे। जैन साधुओं ने अर्ध-मागधी, शौरसेनी तथा महाराष्ट्री प्राकृतों और अपभ्रंशों में अपनी रचना की।

जैनों ने स्थापत्य कला तथा मूर्ति कला का विशेष उत्कर्ष किया। उन्होंने अपने सन्तों के सम्मान में स्तूप बनाये। मथुरा की जैन मूर्तियाँ अत्यन्त मनोहर हैं। हमारे मध्यप्रदेश में ही जैसे ग्वालियर तथा वडवानी में, विशालाकार जैन मूर्तियाँ पायी जाती हैं। जैनियों ने चट्टानों को काटकर मंदिर बनाये। उड़ीसा में हाथी-गुम्फा

में उसके सुन्दर नमूने हैं। इसके अलावा आबू पहाड़ पर ग्यारहवीं सदी के जो जैन मन्दिर बने हैं, वे भारतीय कला-शिल्प के अद्भुत उदाहरण हैं। ग्यारहवीं-बारहवीं सदी में जैन कला अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी थी। इस कला के नमूने भारत में विभिन्न स्थानों पर पाये जाते हैं। उनकी कला में सादगी है, हिन्दू-कला जैसी चमक-दमक नहीं।

**महात्मा गौतम बुद्ध :**

नेपाल की तराई में शाक्य जाति का एक गणराज्य था। उसके प्रमुख थे-राजा शुद्धोदन। उनकी राजधानी थी कपिलवस्तु। उसके कुछ ही मील दूर एक ग्राम था लुम्बिनी। वहाँ ईसा पूर्व 566 में सिद्धार्थ का जन्म हुआ। जन्म के साथ ही एक घटना और हुई। माता मायादेवी पुत्र को जगत् में लाकर स्वयं यह जगत् छोड़कर चली गयीं। जन्म और मृत्यु। ये दो घटनाएँ एक साथ। प्रसव-पीड़ा और मृत्यु-कष्ट दोनों की प्रक्रियाएँ-समानान्तर!

निःसन्देह इस घटना ने, जाने-अनजाने, सिद्धार्थ के मन को प्रभावित किया। साथ ही, उनका मन भीतर-ही-भीतर घुलने लगा। हाँ, यह सही है कि उन्हें जीवन की उस प्रथम घटना की याद नहीं रही होगी। फिर भी, मन भीतर-ही-भीतर उदासी के रंग में घुलता जाता था। वैसे कारण कुछ भी नहीं था। हाँ, यह अवश्य होता था कि वे नगर में घूमते हुए किसी जर्जर वृद्ध को देख लेते, या किसी शव को अथवा अपने राज-उद्यान में किसी आहत पक्षी को, तो दुःख के इस दर्शन-मात्र से उनका हृदय पसीज जाता, और वह दुःख की समस्या पर सोचने लगते। मननशीलता, चिन्तनशीलता उनके जीवन की स्थायी वृत्ति बन गयी। अतः उसके कारण वे नवयौवन में भी गम्भीर हो गये।

आयु-वृद्धि के साथ ही, उन्हें अपने जीवन की प्रथम घटना मालूम हो गयी होगी। उससे उन्हें अपार दुःख हुआ होगा। वे अपनी जन्मदात्री की कल्पना करते रहे होंगे। उनकी आँखों में आँसू छलछला जाते रहे होंगे। कोई उनसे पूछता होगा कि 'भाई मेरे, उदास क्यों हो?' तो उत्तर मिलता होगा, 'कुछ नहीं, कुछ नहीं!!' और एक उदास मुस्कान सिद्धार्थ के होंठों पर सिहर जाती होगी। बाहरी दुनिया में दुःखी जनों को देखकर, उनका संवेदनशील मन चुपचाप धाड़ मारकर रोता होगा और इसका किसी को पता भी न चलता होगा।

उदास गम्भीर मुख-मुद्रा में जब वे बात करते होंगे, तब उनके प्रेमीजनों का हृदय भी दुख जाता होगा; साथ ही सिद्धार्थ और उनके बीच अतिशय घनिष्टता के बावजूद, अपरिचय की दूरी बढ़ती जाती होगी। वे नहीं जान पाते होंगे कि आखिर यह नवयुवक सिद्धार्थ उदास क्यों रहता है। अतिशय प्रेम और अपरिचय के कारण उन प्रेमीजनों ने-पिता ने, सम्बन्धियों ने, सहचरों ने-उनके आस-पास विलास के उपकरण जुटाये। अन्ततः, यशोधरा नामक एक रूपवती राजकन्या से उनका विवाह भी हो गया। घर के लोग नहीं जानते थे कि सिद्धार्थ किस दुनिया में रहते हैं। उनकी विरक्ति को हटाने के लिए उन्होंने पत्नी का प्रबन्ध कर डाला।

किन्तु सिद्धार्थ, वस्तुतः विरक्त नहीं थे। उनके हृदय में पिता के प्रति, पत्नी के प्रति, बन्धुओं और सहचरों के प्रति, मानव मात्र के प्रति, प्रेम-भाव था। वे मानव में अनुरक्त थे। अपने हृदय की आत्यन्तिक संवेदनशीलता के कारण, वे जीवन की जरा-सी भी असंगति को, थोड़े-से भी वैषम्य को देख लेते थे। उन्हें दुःख की समस्या का निदान करना था, जीवन की विभिन्न असंगतियों और विषमताओं को दूर करने का उपाय खोजना था। उनका प्रेमपूर्ण करुणाकातर अन्तःकरण दार्शनिक हो उठा। बौद्ध धर्म का वास्तविक स्रोत सिद्धार्थ का हृदय है।

ऐसी स्थिति में वे घर पर नहीं बैठ सकते थे, घर की चहारदीवारी में मौज करने वाले वे नहीं थे। उनकी जिन्दगी इस मौज के लिए नहीं थी। उन्हें तो दुःख के निराकरण का ऐसा स्थायी निदान चाहिए था जो सारी असंगतियों, सारी विषमताओं को हटाकर मनुष्य के हृदय को प्रेम और शांति से परिपूर्ण कर सके। यशोधरा छूटने ही वाली थी। यशोधरा के पास बैठकर भी, वे उससे कितनी दूर थे। एक रात उन्होंने सोती हुई वधू और बालक राहुल को अन्तिम प्रेम भरी दृष्टि से देखकर घर को छोड़ दिया। यह सिद्धार्थ का महाभिनिष्क्रमण कहलाता है।

यह आवश्यक था कि तत्कालीन जितने भी मार्ग (मत या धर्म) हैं, उन्हें देख लिया जाए कि वे कहाँ तक उपयोगी हैं। गृहत्याग के अनन्तर संन्यास ग्रहण करके, सिद्धार्थ ने दो ब्राह्मण धर्माचार्यों के आश्रम में अध्ययन किया। साथ ही, वे भ्रमण करते रहे, सत्संग करते रहे। जीवन का विस्तृत अनुभव लेते रहे। किन्तु, उन्हें अपने प्रश्न का उत्तर नहीं मिला, अपनी समस्या का निदान नहीं मिला। उन्होंने सोचा, सम्भव है कठोर तपस्या के द्वारा कुछ प्राप्त हो।

उन दिनों ब्राह्मणों द्वारा, तथा ऋषियों के द्वारा भी, तपस्या को अत्याधिक महत्व दिया जाता था। इसलिए, उन्होंने सोचा कि एक बार कठोर तपस्या का प्रयोग भी कर लिया जाए। उन्होंने दृढ़ होकर आस्थापूर्वक (बिहार में) उरुवेला नामक स्थान के सघन वन में कठोर तप किया और अपने शरीर को तरह-तरह की यातनाएँ दीं।

किन्तु तपस्या पूरी होने पर भी कुछ भी हाथ नहीं लगा। समस्या ज्यों-की-त्यों रही। वे बौद्ध गया गये। वहाँ एक बार उन्होंने निरंजना नदी में स्नान किया। उनकी धुन लग गयी। वे एक पीपल के नीचे, यों ही, तृण के आसन पर बैठ गये और मगन हो गये, खो गये। उनके हृदय में सहसा ज्ञान का प्रकाश हुआ, और वे उस प्रकाश में स्थिर हो गये, उसमें डूब गये। वहीं वे 'बुद्ध' हो गये, अर्थात् उन्हें बोध प्राप्त हो गया, ज्ञान मिल गया। तभी से वे तथागत या बुद्ध कहलाए। तब उनकी आयु 35 वर्ष की थी।

इसके बाद वे बनारस गये। वहाँ सारनाथ के हिरण्यकुंज में उन्होंने अपना प्रथम उपदेश दिया। वहाँ उन्हें अपने प्रथम पाँच शिष्य मिले। अपने अगले पैंतालीस वर्ष उन्होंने ज्ञान के प्रचार-प्रसार में व्यतीत किये। वे धनी और गरीब, ब्राह्मण और शूद्र, राजा और रंक, स्त्री और पुरुष-सबको उपदेश देते, सत्य-ज्ञान के योग्य सबको समझते। मगध का राजा बिम्बिसार और उसका पुत्र अजातशत्रु तथा कोशल देश का नृपति प्रसेनजित उनके शिष्य बन गये। सत्य-ज्ञान के प्रचार के लिए उन्होंने एक संघ स्थापित किया। वे अनवरत परिश्रम करते, धर्म का प्रचार करते, वार्तालाप करते, शंका-समाधान करते और सीधा-सरल जीवन व्यतीत करते। इस प्रकार सतत कार्य करते हुए वे अस्सी वर्ष की आयु में, ई.पू. 406 में कुशीनगर में (उत्तर प्रदेश में गोरखपुर ज़िले के अन्तर्गत वर्तमान कसिया में) दिवंगत हुए। वैशाख पूर्णिमा के दिन गौतम बुद्ध ने प्राण-त्याग किया, उसी तिथि को अस्सी वर्ष पूर्व उनका जन्म हुआ था।

**बौद्ध धर्म** : गौतम बुद्ध ने सबसे बड़ा काम यह किया कि उन्होंने धर्म को मानव-धर्म बना डाला, हृदय के उदार तथा कोमल

गुण उसमें पैदा कर दिये, उसे जीवन के अत्याधिक सन्निकट कर दिया। प्रेम और करुणा, उदारता और ज्ञान, विवेक और पर-दुःख-कातरता की जो उदात्त प्रेरणाएँ हैं, उनसे गतिमान होकर, जब मनुष्य मन से, वचन से, और कर्म से, सात्विक जीवन व्यतीत करने लगता है, तब आप-ही-आप बौद्ध धर्म के आदर्श-पथ पर चलने लगता है-भले ही वह उसे माने या न माने।

महात्मा गौतम अपने धर्म को 'मध्यम मार्ग' कहते। वे कहते कि अपनी आत्मा और शरीर को व्यर्थ ही मारना और कष्ट देते रहना अनुचित है, आत्म-हनन, आत्म-पीड़न गलत है। साथ ही, विलास और भोग में पड़े रहकर आसक्तिपूर्ण, आलस्यपूर्ण जीवन व्यतीत करना भी अनुचित है। यदि मनुष्य का ध्यान नित्य सत्य की ओर ही रहे तो वे दोनों प्रकार के अतिरेक उसके हाथ से नहीं होंगे।

जैन धर्म तपस्या-प्रधान, कठोर इन्द्रिय-दमन-प्रधान धर्म है। इसके विपरीत, बौद्ध धर्म में तापसिक कठोरता नहीं है। वह अधिक स्वाभाविक, सात्विक जीवन व्यतीत करने का आदेश देता है। मध्य मार्ग की यही मनुष्यता है। बौद्ध धर्म केवल व्यवहारवादी नहीं है, क्योंकि उसमें आत्मा के विवेक और भावुक पर-दुःख-कातर प्रेम को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। विवेक के ही आधार पर बुद्ध ने किन्हीं विशेष परिस्थितियों में मांस-भक्षण की भी अनुमति दी थी।

**कर्मकाण्ड विरोध** : ब्राह्मणों की ही भाँति, गौतम बुद्ध ने कर्मकाण्ड-प्रधान ब्राह्मण धर्म पर, उसकी जाति-व्यवस्था और वर्णाश्रम धर्म पर कठोर आघात किये। बौद्ध-धर्म में ईश्वर को कोई स्थान नहीं है। कई जगह ईश्वर की सत्ता का निषेध किया गया है। इस अर्थ में, वह अनीश्वरवादी है। किन्तु कई स्थानों पर बात इस तरह कही गयी मानो ईश्वर हो भी सकता है (लेकिन उसके बारे में हमें नहीं मालूम), उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं, न होना चाहिए। गौतम बुद्ध तथा वर्धमान महावीर दोनों कर्म-सिद्धान्त को मानते थे। उन्होंने धर्म को नैतिकता से, और नैतिकता को हृदय में वह उठने वाले प्रेम तथा करुणा के रस से, सम्बद्ध कर दिया। पर-दुःख-कातरता और मानव-कल्याण ही मानव-धर्म है।

दूसरी महत्व की बात यह प्रस्तुत हुई कि चूँकि महापुरुषों का प्रत्यक्ष जीवन उदाहरण अधिक प्रभावशाली होता है, इसीलिये आगे चलकर बौद्ध-धर्म में गौतम बुद्ध की पूजा की जाने लगी। इस प्रकार भक्ति-भाव का उदय हुआ। क्रमशः बौद्धों ने ब्राह्मणों के विश्वास के अनुसार अवतारवाद का भी सिद्धान्त मान लिया। बुद्ध ईश्वरवत् हो गये। पुनः-पुनः जन्म ग्रहण करने लगे। तत्कालीन भक्ति-भाव की पूर्ति उसी तरह हो सकती थी। आगे चलकर, महायान सम्प्रदाय निकला। उसमें गौतम बुद्ध के अवतारों-बोधिसत्त्वों-की कल्पना की गयी और उनकी उपासना की जाने लगी। महायान के विरुद्ध, प्राचीनतर हीनयान ने आदिम बौद्ध धर्म को कायम रखना चाहा।

क्रमशः पौराणिक धर्म का अभ्युदय होता गया, और एक समय वह आया जब बौद्ध धर्म अपना देश खाली करके विदेशों में जा बसा।

...क्रमशः जारी

साभार : मुक्तिबोध रचनावली, भाग 6

**isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी**

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26196356, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904, ईमेल : notowar@rediffmail.com

वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए